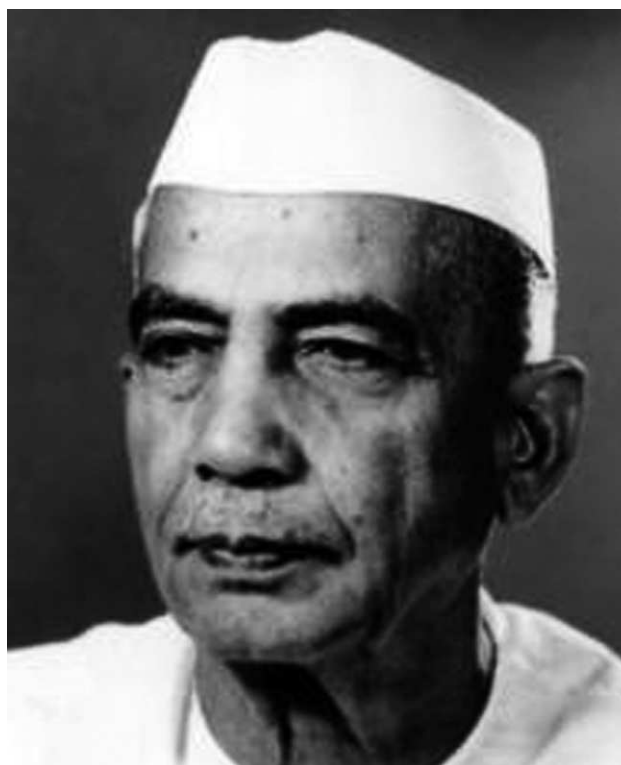


# च

## चरण सिंह

(Charan Singh)

नेहरू युग के राजनीतिज्ञों की दूसरी पंक्ति की असाधारण हस्ती चरण सिंह (1902-1987) समाजवादी विचार के विरोधी लेकिन कृषि-लोकतंत्र के पक्षधर सिद्धांतकार थे। अपने नेतृत्वकारी गुणों और राजनीतिक कौशल के दम पर उन्होंने मधु लिमये और मुलायम सिंह यादव जैसे लोहियावादियों को भी अपने पीछे चलने पर विवश कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भागीदारी करने के बाद पचास के दशक में चरण सिंह ने कांग्रेस के भीतर राज्य द्वारा सामूहिक और सहकारी खेती के समर्थन के सवाल पर नेहरू की अर्थनीति का विरोध किया। उन्हें यकीन था कि सामूहिक खेती मानव-स्वभाव के विरुद्ध है और इससे उत्पादन पर खराब असर पड़ेगा। चरण सिंह के आलोचक उन्हें कुलक या बड़े किसानों का समर्थक कहते हैं, पर असलियत यह है कि वे ज़मीन के मालिकाने के मामले में व्यापक असमानता के खिलाफ़ थे। वे औद्योगिक क्षेत्र में एक ऐसी विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था के पक्ष में थे जिसमें बड़े पैमाने पर तकनीक का प्रयोग सिर्फ़ उन क्षेत्रों तक सीमित हो जहाँ उसकी निहायत ज़रूरत है। 1967 में ग़ैर-कांग्रेसवाद का दामन थामते हुए उत्तर प्रदेश की संयुक्त विधायक दल सरकार में मुख्यमंत्री बने। अपनी अलग पार्टी बना कर चरण सिंह ने उग्र के पिछड़े समुदायों की राजनीतिक गोलबंदी की और प्रधानमंत्री पद तक पहुँचे। चरण सिंह की ख्याति कुशल प्रशासक की भी थी। वे एक ऐसे नेता के रूप में प्रसिद्ध थे जो प्रशासन में अव्यवस्था, चाटुकारिता और बेईमानी बर्दाश्त नहीं करते थे। हालाँकि उन्होंने राजसत्ता पाने के लिए तरह-तरह के समझौते



चरण सिंह (1902-1987)

किये, पर समय आने पर ऊँचे पदों से इस्तीफ़ा देने से भी नहीं हिचके। ब्राह्मणवाद और उससे जुड़ी अवधारणाओं का विरोध करने वाले चरण सिंह पूरी तरह से सेकुलर नेता थे।

प्रबुद्ध विचारक एवं लेखक के रूप में चरण सिंह ने भूमि सुधार, कृषि और भारत के आर्थिक विकास को केंद्रित कर कई किताबें लिखीं। उनकी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक *इण्डियाज़ पावर्टी ऐंड इट्स सोल्यूशन* 1959 में एक भिन्न शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। उनकी रचना *द प्रॉब्लम ऐंड इट्स सोल्यूशन* कांग्रेस के नागपुर प्रस्ताव की प्रतिक्रिया में छपी।

इस प्रस्ताव में कांग्रेस ने भारत की कृषि समस्याओं के समाधान के लिए सहकारी फ़ार्मों की स्थापना पर जोर दिया था। इसके अलावा *अबॉलिशन ऑफ़ ज़मींदारी, पेजेंट प्रोपराइटरशिप* आदि पुस्तकों में उन्होंने सम्पूर्ण भारत के लिए एक वैकल्पिक विकास-रणनीति प्रस्तुत की। चरण सिंह को मध्यवर्गीय कृषकों के मुख्य प्रवक्ता के रूप में जाना जाता है। गाँधीवाद के समर्थक चरण सिंह की वेशभूषा में गाँधी टोपी हमेशा शामिल रही। वे वक्तृत्व क्षमता के धनी थे। उन्हें सुनने के लिए जनसभाओं में अपार भीड़ जुटा करती थी। सादा जीवन-उच्च विचार के हिमायती चरण सिंह अनुशासन प्रिय एवं सिद्धांतवादी थे।

चरण सिंह का जन्म उत्तर प्रदेश की मेरठ कमिश्नरी के जिला गाज़ियाबाद की हापुड़ तहसील के नूरपुर गाँव में 23 दिसम्बर 1902 को हुआ था। चरण सिंह के पिता चौधरी मीरसिंह एक मध्यमवर्गीय किसान थे और पुत्र के जन्म के छह वर्ष बाद नूरपुर से जानी खुर्द गाँव में बस गये। चरण सिंह की प्राथमिक शिक्षा गाँव में ही पूरी हुई और आगे की पढ़ाई उन्होंने मेरठ के सरकारी उच्च विद्यालय से की। 1928 में उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से विधि की उपाधि प्राप्त की और गाज़ियाबाद में वकालत करनी शुरू की। इसी समय उनका जुड़ाव आर्यसमाज से हुआ। 1929 में वे गाज़ियाबाद आर्यसमाज के सभापति चुने गये और सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध चेतना जाग्रत की। इस समय देश में आज़ादी का आंदोलन गति पकड़ रहा था। 1929 में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य की माँग की गयी। इससे प्रभावित होकर चरण सिंह मेरठ आ कर कांग्रेस के सदस्य बन गये। 1930 में जब महात्मा गाँधी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन के तहत नमक-क्रानून तोड़ने का आहवान किया तब चरण सिंह ने गाज़ियाबाद जिले की सीमा पर बहने वाली हिण्डन नदी पर नमक बनाया और छह महीने का कारावास झेला। जेल से छूटने के बाद चरण सिंह पूरी तरह आज़ादी के आंदोलन में कूद पड़े। कांग्रेस पार्टी में उन्होंने कुशलता से कार्य किया और 1937 के उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव में वे छतरौली विधानसभा क्षेत्र से निर्वाचित हुए। इसी सीट से वे 1946 में भी चुने गये।

1937 में चरण सिंह पहली बार गाज़ियाबाद क्षेत्र से प्रांतीय धारा सभा में चुने गये जहाँ उन्होंने लैण्ड यूटिलाइजेशन बिल पास कराने का प्रयास किया। अंग्रेज़ सरकार ने इस बिल को प्रस्तुत नहीं होने दिया क्योंकि यह बिल किसानों के हित में था। इसके बाद चरण सिंह ने धारा सभा में ऋण निर्मोचन विधेयक प्रस्तुत किया। उस समय कांग्रेस के ही कुछ विधायक नहीं चाहते थे कि यह विधेयक पास हो क्योंकि उन्होंने लाखों गरीब किसानों को ऋण के जाल में फ़ाँस रखा था। चरण सिंह ने विधेयक की सतर्क पैरवी की और विधेयक पास हो गया परिणामस्वरूप लाखों किसान ऋण के जाल से

मुक्त हो गये। 1939 में चरण सिंह ने नवनिर्वाचित धारा सभा में पचास प्रतिशत आरक्षण खेतिहर मज़दूर किसान के लिए आरक्षित करने की माँग की, परंतु उस पर विचार नहीं किया गया। आज़ादी के बाद 1947 में चरण सिंह ने एक बार फिर कांग्रेस विधान मण्डल में यह प्रस्ताव रखा, लेकिन उस समय कांग्रेस कृषि की अपेक्षा उद्योगीकरण के पक्ष में थी, इसलिए यह बिल पास नहीं हो सका। 1940 के व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन में भी चरण सिंह ने भाग लिया और गिरफ़्तार हुए। 1942 में अगस्त क्रांति के समय उन्होंने भूमिगत होकर गाज़ियाबाद, हापुड़, मेरठ, मवाना, सरथना, बुलंदशहर के गाँवों में गुप्त क्रांतिकारी संगठन तैयार किये। उस समय मेरठ कमिश्नरी में क्रांतिकारी साथियों के साथ मिलकर उन्होंने बार-बार अंग्रेज़ी शासन को चुनौती दी। यहाँ तक कि मेरठ प्रशासन ने चरण सिंह को देखते ही गोली मारने के आदेश जारी किये थे। गिरफ़्तार होने के बाद चरण सिंह को डेढ़ वर्ष की सजा मिली। जेल में रहते हुए उन्होंने *शिष्टाचार* शीर्षक पुस्तक लिखी।

1951 में गोविंदवल्लभ पंत की सरकार में वे संसदीय सचिव बनाये गये और न्याय एवं सूचना विभाग के स्वतंत्र प्रभार के साथ कैबिनेट मंत्री हो गये। 1952 में सम्पूर्णानंद के मुख्यमंत्रित्व काल में उन्हें राजस्व एवं कृषि विभाग का दायित्व दिया गया। इस समय उन्होंने ज़मींदारी व्यवस्था के विरुद्ध आवश्यक क्रदम उठाये जिससे बाद में भूमि सुधार एक्ट लाने में मदद मिली। 1952 में उत्तर प्रदेश विधानसभा में चरण सिंह द्वारा तैयार ज़मींदारी उन्मूलन विधेयक पारित हुआ जिसके फलस्वरूप मेहनत करने वाले भूमिहीन एवं पिछड़े किसानों को अपना अधिकार मिला। 1953 में उन्होंने चकबंदी क्रानून पारित कराया और 1954 में उत्तर प्रदेश भूमि संरक्षण क्रानून पारित कराया साथ ही निर्धन किसानों की सुविधा हेतु सस्ते खाद बीज आदि के लिए कृषि आपूर्ति संस्थानों की स्थापना की। 1960 में चंद्रभानु गुप्ता की सरकार में उन्हें गृह एवं कृषि मंत्रालय दिया गया। इस समय भूमि हदबंदी क्रानून लागू कराने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। 1962-63 में सुचेता कृपलानी के मंत्रिमण्डल में उन्होंने कृषि और वनमंत्री के रूप में राज्य की सेवा की।

चरण सिंह ने 1967 में कांग्रेस छोड़ दी और उत्तर प्रदेश के पहले ग़ैर-कांग्रेसी मुख्यमंत्री बने। अपने मुख्यमंत्रित्व काल में चरण सिंह ने कुटीर उद्योगों तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि की योजनाओं को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से सरकारी एजेंसियों द्वारा ऋण देने के तौर-तरीके को सरल बनाया। साढ़े छह एकड़ तक की जोत पर आधा लगान माफ़ कर दिया। किसानों को नकदी एवं अन्य फ़सलों के लाभकारी मूल्य दिलाने के संबंध में महत्वपूर्ण निर्णय लिये और किसानों के लिए जोतबही की व्यवस्था की। भूमि भवन कर

समाप्त किया। चरण सिंह द्वारा कृषक हितों की रक्षा के पीछे केवल आर्थिक एवं पारिस्थितिकीय कारण ही नहीं थे बल्कि एक विचारधारा एवं राजनीतिक आधार भी था। उनका मानना था कि एक कृषक समाज में प्रजातंत्र छोटे किसानों के अस्तित्व पर ही निर्भर करता है। 1970 में फिर मुख्यमंत्री बनने पर उन्होंने पुनः कृषि उत्पादन बढ़ाने की नीति को प्रोत्साहन दिया। साढ़े तीन एकड़ वाली जोतों का लगान माफ़ करते हुए उर्वरकों से बिक्री कर उठा लिया। भूमिहीन खेतिहर-मजदूरों को कृषि भूमि दिलाने के कार्य पर जोर दिया तथा भूमि विकास बैंकों की कार्य प्रणाली को और उपयोगी बनाया।

1970 में कांग्रेस का विभाजन हुआ। कांग्रेसी नेता इंदिरा कांग्रेस या सिंडिकेट कांग्रेस के साथ जुड़ गये। केंद्रीय स्तर का विभाजन राज्य स्तर पर भी लागू हुआ और उत्तर प्रदेश की राजनीति पर उसका प्रभाव भी पड़ा। चरण सिंह कांग्रेस (ओ) के पक्ष में रहे लेकिन इंदिरा गाँधी को यह स्वीकार नहीं था कि कांग्रेस (ओ) का कोई व्यक्ति उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री रहे, इसलिए उन्होंने अक्टूबर 1970 में उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लगवा दिया जिससे चरण सिंह का मुख्यमंत्रित्व समाप्त हो गया, लेकिन चरण सिंह को उत्तर प्रदेश की ज़मीनी राजनीति से अलग करना सम्भव नहीं था। चरण सिंह ने राज्य स्तर पर विविध क्षमताओं के साथ सेवा की और हर संघर्ष में विजयी हुए।

1967 में चरण सिंह ने एक नयी पार्टी भारतीय क्रांति दल का गठन किया। उनकी पार्टी द्वारा चलाये गये राजनीतिक आंदोलन का केंद्र मध्यवित्त कृषक समुदाय एवं लक्ष्य राज्य एवं देश की आर्थिक विकास नीति को पुनर्जीवन देना था। बड़े पैमाने पर किये जा रहे उद्योगीकरण के स्थान पर उनकी पार्टी कृषि निवेश पर जोर देने वाली नीतियाँ बनाना चाहती थी। वह गाँवों में कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देना चाहती थी ताकि ग्रामीण कृषक समूहों विशेषकर भूमिहीन किसानों को लाभ मिले। कृषक कल्याण के लिए सजग चरण सिंह की निष्ठा कांग्रेस सिंडिकेट के प्रति रही। 1970 के बाद से चरण सिंह की राजनीतिक गतिविधियाँ केंद्र की तरफ झुकती गयीं। उस समय की महत्वपूर्ण घटनाओं में चरण सिंह की केंद्रीय भूमिका रही। जनता पार्टी को केंद्रीय सहारा देते हुए कांग्रेस को हटाने के लिए उन्होंने पहला राजनीतिक गठबंधन तैयार किया। आपातकाल के बाद 1977 के चुनाव में उनके राजनीतिक संगठन की बदौलत जनता पार्टी ने इंदिरा गाँधी को हराया और केंद्र में सरकार बनायी। मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री बने और चरण सिंह को उपप्रधानमंत्री एवं गृहमंत्री बनाया गया। केंद्र में गृहमंत्री रहते हुए उन्होंने मण्डल आयोग एवं अल्पसंख्यक आयोग की स्थापना की।

जनता पार्टी सरकार में कलह के कारण जून, 1978 में

चरण सिंह को मंत्रिमण्डल से त्याग पत्र देने के लिए विवश किया गया। जनवरी, 1979 में वे वित्त मंत्री बने। 1979 में वित्तमंत्री एवं उपप्रधानमंत्री के रूप में राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक, नाबार्ड की स्थापना की। अंत्योदय योजना शुरू की और पहली बार कृषि बजट की आवंटित राशि में वृद्धि करवायी। उर्वरकों व डीजल के दामों में कमी की। कृषि यंत्रों पर उत्पाद शुल्क घटाया, विलासिता की सामग्री पर भारी कर लगाते हुए लाइसेंस आवंटन पर पाबंदी लगायी और लघु उद्योगों को बढ़ावा दिया। काम के बदले अनाज योजना शुरू की और मूल्यगत विषमता पर रोक लगाने के लिए कृषि जिंसों की अंतर्राज्यीय आवाजाही पर रोक लगायी।

1979 में चरण सिंह ने सोशलिस्टों की मदद से पार्टी और सरकार तोड़ दी। जनसंघ के सदस्यों द्वारा जनता पार्टी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दोहरी सदस्यता छोड़ने से इनकार करने के मसले पर वे जनता पार्टी और सरकार से बाहर निकल गये। अल्पमत में आ जाने के कारण मोरारजी सरकार ने 15 जुलाई को त्याग पत्र दे दिया। एक सप्ताह बाद चरण सिंह ने कांग्रेस-यू और कुछ समाजवादियों के साथ गठबंधन करके सरकार बनायी। कांग्रेस-आयी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने बाहर से समर्थन दिया। लेकिन विश्वास मत पर मतदान से एक दिन पहले ही इंदिरा गाँधी ने चरण सिंह से अपना समर्थन वापस ले लिया क्योंकि चरण सिंह ने इंदिरा गाँधी पर मुकदमे चलाने के लिए स्थापित विशेष अदालतों को समाप्त करने की माँग को ठुकरा दिया था। चरण सिंह प्रधानमंत्री के रूप में संसद का एक बार भी सामना नहीं कर पाये। इसी के बाद चरण सिंह की सलाह पर राष्ट्रपति ने लोकसभा भंग कर दी और मध्यावधि चुनाव घोषित कर दिये। चरण सिंह को विश्वास था कि उनके द्वारा त्यागपत्र दिये जाने के कारण जनता की सहानुभूति उनके साथ होगी और मध्यावधि चुनाव में उनकी पार्टी लोकदल और समाजवादियों को बहुमत प्राप्त हो जाएगा। मध्यावधि चुनाव के दौरान वे कार्यवाहक प्रधानमंत्री रहे और किसान राजा के चुनावी नारे के साथ चुनाव में उतरे लेकिन उन्हें पराजय का सामना करना पड़ा। 1980 के चुनावों में उनकी पार्टी लोकदल सबसे बड़ी और गैर-कांग्रेसी पार्टी के रूप में उभरी और वे संसद में विपक्ष के नेता हो गये। 1984 के चुनावों में राजीव गाँधी के विजयी होने पर वे हताश हुए। उनकी पार्टी को संसद में मात्र दो सीटों पर संतोष करना पड़ा। 29 मई, 1987 को 85 वर्ष की अवस्था में देहांत होने के बाद उनकी स्मृति में नयी दिल्ली में किसान घाट का निर्माण किया गया।

देखें : अबुल क़लाम आज़ाद, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1 से 3 तक, एलमकुलम मनक्कर शंकरन नम्बूद्रीपाद, कांशी राम, गोपाल कृष्ण गोखले, जवाहरलाल नेहरू, जय प्रकाश नारायण, दादाभाई नौरोजी, बल्लभभाई पटेल, बाल गंगाधर तिलक, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राम मनोहर लोहिया, विनायक दामोदर सावरकर।

**संदर्भ**

1. अजय सिंह (सम्पा.) (1990), चौधरी चरण सिंह : विशिष्ट रचनाएँ, किसान ट्रस्ट, नयी दिल्ली.
2. पॉल आर. ब्रास (1993), 'चौधरी चरण सिंह : ऐन इण्डियन पॉलिटिकल लाइफ', इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड 28, अंक 39.
3. चरण सिंह (1978), इण्डियाज़ इकॉनॉमिक पॉलिसी : द गाँधीयन ब्लूप्रिंट, विकास पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
4. चरण सिंह, 'शुड इण्डिया यूज़ फ़ॉर ऐक्सचेंज रिज़र्व्स टू फ़ाइनेंस इंफ़्रास्ट्रक्चर?', इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड 41, अंक 6.

**—बीर पाल सिंह यादव****चारु मजूमदार**

(Charu Majumdar)

नक्सलवादी आंदोलन के प्रमुख सिद्धांतकार और संस्थापक चारु मजूमदार (1919-1972) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) के पहले महासचिव थे। कम्युनिस्ट पार्टी की भीतरी बहसों में वे सोवियत रास्ते के मुकाबले चीन के रास्ते यानी कृषि-क्रांति के समर्थक थे। सारे जीवन किसानों के बीच राजनीतिक काम करने वाले चारु मजूमदार ने 1967 में उत्तर बंगाल की तरायी में स्थित नक्सलबाड़ी इलाके में आदिवासी किसानों के सशस्त्र विद्रोह का नेतृत्व किया। परिणामस्वरूप मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को सारे देश में विभाजन का शिकार होना पड़ा। उनके द्वारा किये गये क्रांति के आह्वान से आकर्षित हो कर देश के कई हिस्सों में किसान, आदिवासी और मध्यवर्गीय छात्र-युवक गैरक्रान्ती क्रांतिकारी गतिविधियों में कूद पड़े। इसके कारण भारतीय राज्य की सम्प्रभुता और वैधता एक ऐसे संकट में फँस गयी जिससे पूरी तरह निकलने में वह आज तक कामयाब नहीं हो पायी है। नक्सलवादी आंदोलन से पहले कम्युनिस्ट आंदोलन में प्रचलित 'मिडिल पेजेंट थियरी' के तहत भूमिहीन मजदूरों को किसान का दर्जा ही नहीं दिया जाता था। लेकिन चारु मजूमदार ने किसान आंदोलन की प्राथमिकताएँ बदल दीं और उनके मार्ग-निर्देशन में खेतिहर मजदूरों के तबक्रे को पहली बार एक क्रांतिकारी शक्ति के रूप में पहचाना गया। संसदीय प्रणाली में भागीदारी करते हुए लोकतांत्रिक जनांदोलनों के विकास के जरिये कम्युनिस्ट क्रांति की परिस्थितियाँ बनाने की रणनीति को खारिज करते

हुए मजूमदार ने गैरक्रान्ती भूमिगत पार्टी बनाने, भूमिहीन और गरीब किसानों को सरकार के खिलाफ छापामार युद्ध में उतारने और इलाकावार सत्ता-दखल के कार्यक्रम की वकालत की। उन्होंने मार्क्सवाद-लेनिनवाद के साथ माओ विचार के समावेश के लिए रास्ता खोला। चारु मजूमदार के लेखन के कारण ही माओ के विचार और उक्तियाँ आम राजनीतिक बातचीत का अंग बनीं, और आगे चल माओवाद की सम्भावना तैयार हुई। उन्हें 'वर्ग-शत्रु के सफ़ाये' की विवादास्पद कार्यदिशा सूत्रबद्ध करने के लिए भी जाना जाता है।

चारु मजूमदार का जन्म वाराणसी (उप्र) में 1919 के बंगाली माह ज्येष्ठ (मई-जून) में हुआ था। उनका बचपन सिलीगुड़ी स्थित घर महानंद पाड़ा में गुजरा। छात्र के रूप में अत्यंत प्रतिभाशाली चारु पढ़ाई बीच में ही छोड़ कर 1938 में कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी में शामिल हो गये। उनके पिता वीरेश्वर मजूमदार दार्जीलिंग ज़िला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे, और माँ सामाजिक आंदोलनों में भागीदारी करती थीं। विवाह के बाद कुछ पारिवारिक घटनाओं के कारण सम्पत्ति के रख-रखाव में उनकी दिलचस्पी घटती चली गयी और समाज-सेवा का रुझान बढ़ा। छात्र जीवन से ही वामपंथी साहित्य का अध्ययन करने वाले चारु 1942 में कम्युनिस्ट पार्टी के पूर्णकालिक कार्यकर्ता बने और किसान मोर्चे पर जम कर काम किया। उन्होंने 1945 में हुए तेभागा आंदोलन में भी हिस्सा लिया। यही वह दौर था जब उन्हें भूमिगत और हिंसक आंदोलन का तजुर्बा मिला।

भारत का कम्युनिस्ट आंदोलन 1964 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा) और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) के बीच बँट गया था। माकपा को भाकपा के मुकाबले अधिक रैडिकल माना जाता था, पर चारु मजूमदार इस नयी पार्टी के किसान आंदोलन संबन्धी रवैये से संतुष्ट नहीं थे। साल भर बाद ही उन्होंने अपने बहुचर्चित आठ दस्तावेजों का लेखन शुरू किया जिनका मकसद कम्युनिस्टों को कृषि-क्रांति की दिशा में ले जाना था। इसी बुनियादी आधार पर बाद में नक्सलवादी क्रांति का शीराजा खड़ा हुआ। 28 फ़रवरी, 1965 को मजूमदार ने अपना पहला दस्तावेज़ 'वर्तमान स्थिति और हमारे कर्तव्य' लिख कर पार्टी की क्रतारों में बाँटा। इसी साल चार दस्तावेज़ और आये जिनके शीर्षक इस प्रकार थे : 'संशोधनवाद से संघर्ष करके जनता की जनवादी क्रांति को सफल बनायें', 'भारत के स्वतः स्फूर्त क्रांतिकारी सैलाब का स्रोत क्या है?', 'आधुनिक संशोधनवाद के खिलाफ संघर्ष चलाते जाएँ' और '1965 किस सम्भावना का संकेत दे रहा है'। इस दस्तावेज़ों के पीछे माकपा को ही एक क्रांतिकारी पार्टी में बदलने की मंशा थी। लेकिन इसके बाद आये तीन दस्तावेज़ माकपा से मोहभंग और एक नयी पार्टी की धारणा



चारु मजूमदार ( 1919-1972)

की तरफ जाने का संकेत दे रहे थे।

पहले दस्तावेज़ में चारु मजूमदार ने लिखा था कि मुद्रास्फीति और खाद्य-संकट के कारण होने वाले जनांदोलनों को सरकार दबायेगी। अमेरिकी मदद इस असंतोष से निबटने के लिए काफी नहीं होगी। इस परिस्थिति में पार्टी की इकाई को हर जगह पाँच-पाँच लोगों के सक्रिय और गोपनीय दल तैयार करने चाहिए जिनमें पुलिस द्वारा पहचाना जा सकने वाला कोई व्यक्ति न हो। इस दल की गुप्त बैठकें हों और इसके क्रागज-पत्र छिपा कर रखे जाएँ। इन हालात में राजनीतिक प्रचार की मुख्य बात होगी कृषि-क्रांति। दूसरे दस्तावेज़ में चारु बाबू ने संशोधनवाद की परिभाषा दी और तेभागा आंदोलन के अनुभवों का निचोड़ निकाला। उनके अनुसार संशोधनवाद का मतलब था : पार्टी का काम किसान सभा और ट्रेड यूनियन चलाना समझ लेना, कुछ माँगों के लिए आंदोलन चलाने को ही राजनीतिक काम मान लेना, इलाकावार सत्ता-दखल की उपेक्षा करते हुए आंदोलन का दायरा धीरे-धीरे बढ़ाने पर निर्भर रहना, सशस्त्र क्रांति के लिए स्थानीय तौर पर हथियार न जमा करना, जन-संगठनों का काम स्थानीय लाभ की दृष्टि से करना न कि पार्टी की सम्पूर्ण देशव्यापी नीति के तहत उनका संचालन करना और पार्टी को वाद-विवाद के अड्डे में बदल देना। मजूमदार ने दावा किया कि तेभागा आंदोलन में साठ लाख किसानों ने भागीदारी की और उनके ऊपर सरकार ने जम कर जुल्म-ज्यादतियाँ कीं, फिर भी यह आंदोलन संशोधनवादी रवैये के कारण ही राजसत्ता पर कब्जे की मुहिम में विकसित नहीं हो पाया। तीसरे दस्तावेज़ में उनका कहना था कि कम्युनिस्ट पार्टी ने चीन में क्रांति के अनुभव की उपेक्षा की है। इस समय सारी दुनिया में क्रांतिकारी परिस्थिति का उभार आ रहा है और

भारत में भी जनांदोलनों का स्वतःस्फूर्त सैलाब आ रहा है। इसका लाभ उठाना चाहिए।

चौथे दस्तावेज़ में चारु मजूमदार ने भारत को मिलने वाली सोवियत सहायता के चरित्र की आलोचना करते हुए कहा कि पब्लिक सेक्टर भी इजारेदार पूँजीपतियों के हितों के लिए काम कर रहा है। उन्होंने राष्ट्रीयताओं के आत्म-निर्णय के अधिकार का समर्थन करते हुए लिखा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष के दौरान राष्ट्रीय एकता बनी थी जिसे भारत के शासकों ने साम्राज्यवाद से साठगाँठ करके कमजोर कर दिया है। चारु बाबू ने किसान आंदोलन में वर्ग-विचार प्रतिष्ठित करने पर जोर देते हुए सरकारी दमन के खिलाफ मौन जुलूस निकालने के बजाय भूमिगत एक्टिविस्ट ग्रुपों की मदद से सक्रिय प्रतिरोध संघर्ष विकसित करने पर जोर दिया। पाँचवें दस्तावेज़ में उन्होंने शांतिपूर्ण जनांदोलन के बजाय संघर्ष की मुख्य पद्धति के तौर पर हथियारबंद लड़ाई के रूपों को सामने रखा। उनका कहना था कि जनता के गुस्से को सुचिंतित नेतृत्व की जरूरत है। उसे इमारतें जलाने या तोड़-फोड़ करने के लिए नहीं बल्कि सरकारी मशीनरी को नष्ट करने के लिए विद्रोह करना होगा। इस दस्तावेज़ में चारु बाबू ने भूमिगत काम करने के तरीके भी बताये थे।

इन पाँच दस्तावेज़ों के बाद चारु बाबू को अन्य कम्युनिस्ट नेताओं के साथ भारत रक्षा क़ानून में गिरफ़्तार कर लिया गया। वे 1966 में छूटे और बाक़ी तीन दस्तावेज़ों का लेखन किया। छठें दस्तावेज़ में उन्होंने आने वाले लोक सभा चुनाव के ठीक पहले जनांदोलन को छापामार संघर्ष में बदलने, लड़ाकू दस्ते बनाने, पुलिस-फ़ौज-वर्ग दुश्मन-नौकरशाहों पर हमले करने और हथियार जमा करने का कार्यक्रम दिया। सातवें दस्तावेज़ के जरिये उन्होंने देहाती इलाकों को मुक्तांचल में बदलने और सशस्त्र संघर्ष पर जोर देते हुए एक गोपनीय क्रांतिकारी पार्टी के गठन का आह्वान किया। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी को वे अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन के केंद्र के रूप में देख रहे थे। मार्च, 1967 में माकपा की भागीदारी वाली ग़ैरकांग्रेसी संयुक्त मोर्चा सरकार ने पश्चिम बंगाल में शपथ ली। चारु मजूमदार ने अप्रैल में आठवाँ दस्तावेज़ लिख कर माकपा की संक्रमणकालीन सरकारों के सिद्धांत और व्यवहार पर आक्रमण करते हुए सवाल उठाया कि कम्युनिस्टों का काम ग़ैरकांग्रेसी सरकार की हिफ़ाज़त करना है या वर्ग-संघर्ष चलाना।

दरअसल संयुक्त मोर्चा सरकार बनने के 18 दिन बाद ही सिलीगुड़ी परगना के किसान सम्मेलन में मजूमदार, उनके साथ कानु सान्याल और जांगल संधाल ने ज़मींदारों की ज़मीन पर कब्ज़ा करने का कार्यक्रम लेते हुए किसानों से सरकारी दमन के खिलाफ़ हथियारबंद लड़ाई के लिए तैयार रहने के लिए कहा था। नतीजतन 23 मई को नक्सलबाड़ी विद्रोह

हुआ। दोनों तरफ से हुए खून-खराबे के बाद चारु बाबू समेत ज्यादातर नेता गिरफ्तार कर लिये गये। लेकिन नक्सलबाड़ी की खबर माकपा के हलकों में आग की तरह फैली। पश्चिम बंगाल ही नहीं, बल्कि आंध्र प्रदेश, केरल, पंजाब, उत्तर प्रदेश, कश्मीर और बिहार में चीन के रास्ते और कृषि-क्रांति में भरोसा रखने वाले माकपा की कॉमरेडों ने इस विद्रोह का पक्ष लिया। इनमें प्रादेशिक स्तर माकपा के नेतृत्व करने वाले तत्त्व भी शामिल थे। 28 जून को रेडियो पेकिंग ने 'भारत में वसंत का वज्रनाद' क्रार दे कर इस आंदोलन का स्वागत किया।

13 नवम्बर, 1968 को खुद को कम्युनिस्ट क्रांतिकारी मानने वाले ये तमाम लोग कोलकाता में मिले और क्रांतिकारियों की अखिल भारतीय समन्वय समिति बना ली। इसके थोड़े दिनों बाद ही आंध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम इलाके में आदिवासी किसानों ने सशस्त्र विद्रोह कर दिया। फरवरी, 1969 में दूसरी संयुक्त मोर्चा सरकार बनी जिसने नक्सलबाड़ी के नज़रबंद नेताओं को रिहा कर दिया। माकपा से निकले कई नेतृत्वकारी साथी फिलहाल पार्टी-गठन के पक्ष में नहीं थे। इसलिए उन्हें छोड़ कर सहमत लोगों के साथ मिल कर 1969 में मई दिवस के दिन कोलकाता में भाकपा (माले) का गठन किया गया। मार्क्सवाद-लेनिनवाद माओ विचार को अपनाने वाली नयी पार्टी को चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने फौरन मान्यता दे दी।

लेकिन, पार्टी बनाने या न बनाने के सवाल पर कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के बीच हुई बहस से कई तरह के मतभेद निकले, जिनका आगे जा कर नक्सली आंदोलन पर बहुत खराब असर पड़ा। पार्टी के महासचिव चुने जाने के बाद चारु बाबू ने पार्टी की तरफ से श्रीकाकुलम का नेतृत्व संभाला। 1969 उन्होंने दो बार श्रीकाकुलम का नेतृत्व किया। सोमपेट तालुका के एक गाँव में किसानों द्वारा की गयी ज़मींदार की हत्या से फैला उत्साह उन्हें 'वर्ग-शत्रु की हत्या वर्ग-संघर्ष की सर्वोच्च अवस्था' जैसे सूत्रीकरण की तरफ ले गया। इससे सफ़ाये की लाइन निकली और देश में जगह-जगह नक्सली कार्यकर्ताओं द्वारा ज़मींदारों की हत्याएँ होने लगीं। चारु मजूमदार मध्यवर्गीय कार्यकर्ताओं द्वारा बारूदी हथियारों से सफ़ाये की कार्रवायी करने के खिलाफ़ थे। उनका कहना था कि आदर्श सफ़ाया किसानों के हाथ से और उन्हीं के अपने हथियारों के जरिये होना चाहिए। तभी उनकी चेतना क्रांतिकारी बनेगी।

ये चारु मजूमदार की राजनीति में उछाल के दिन थे। उनके आह्वान पर कोलकाता में छात्रों और युवकों ने शासक वर्ग के बुद्धिजीवियों और सांस्कृतिक हस्तियों की मूर्तियाँ तोड़ने और पुस्तकें जलाने की मुहिम शुरू की। उन्होंने 'चीन के चेयरमैन हमारे भी चेयरमैन' जैसे विवादास्पद नारे भी दिये और सत्तर का दशक क्रांति का दशक बनाने का एलान भी कर दिया। लेकिन 1971 के मध्यावधि चुनाव से पहले

सरकार ने देश भर में पुलिस और सुरक्षा बलों के जरिये नक्सली आंदोलन पर चौतरफ़ा दमनकारी हमला किया। जगह-जगह कम्युनिस्ट क्रांतिकारी या तो मुठभेड़ में मार डाले गये या गिरफ्तार कर लिए गये। भूमिगत गतिविधियों के दौरान चारु बाबू लगातार अलगाव में पड़ते गये। उनके विश्वस्त साथी भी दमन के शिकार हो गये। 16 जुलाई, 1972 को पूर्वी कोलकाता के एक मकान पर पड़े छापे में बेहद बीमार और कमजोर चारु मजूमदार गिरफ्तार कर लिए गये। लाल बाज़ार पुलिस स्टेशन की हिरासत में ही लगातार पूछताछ और इलाज न मिल पाने के कारण उनका देहांत हो गया। इसके बाद पार्टी बिखराव का शिकार हो गयी और नक्सली आंदोलन कई टुकड़ों में टूट गया।

चारु बाबू का पूरा जीवन त्याग, कठोर परिश्रम, मार्क्सवाद के निरंतर अध्ययन और भारत में किसान क्रांति की समस्याओं से जुड़ते हुए बीता। दिल की बीमारी, स्थायी दमा और कई और बीमारियों के बावजूद उन्होंने पूरे देश के दौरे किये और भाकपा (माले) का गठन किया। माकपा में वे महज़ एक तहसील स्तर के नेता ही थे, पर अपनी वैचारिक और सांगठनिक पहलकदमियों के दम पर उन्होंने राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त किया। हालाँकि उन्होंने भारतीय राज्य को हथियारों के दम पर उखाड़ने की मुहिम चलायी, पर पुलिस हिरासत में उनके देहांत के बाद संसद में उन्हें भरपूर श्रद्धांजलियाँ दी गयीं। अटल बिहारी वाजपेयी, ए.के. गोपालन और राजनारायण ने उनकी मृत्यु के कारणों की जाँच की माँग भी की।

देखें : कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, मार्क्सवाद- 1 से 5 तक, चीन की कम्युनिस्ट क्रांति, नयी सदी में मार्क्सवाद-1 से 9 तक, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारत में किसान आंदोलन-1 से 4 तक, माओ त्से-तुंग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, व्लादिमिर इलीच लेनिन, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3.

### संदर्भ

1. अभय कुमार दुबे (1989), *क्रांति का आत्म-संघर्ष : नक्सलवादी आंदोलन के बदलते चेहरे का अध्ययन*, विनय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. 'लाइफ़ स्केच ऑफ़ अ रेवोल्यूशनरी' (1984), *लिबेरेशन*, कोलकाता, जुलाई.
3. चारु मजूमदार (1971), *संकलित रचनाएँ*, लिबेरेशन प्रकाशन, कोलकाता.
4. शंकर घोष (1975), *नक्सलाइट मूवमेंट*, फ़र्मा के.एल. मुखोपाध्याय, कोलकाता.

— अभय कुमार दुबे

## चार्ल्स-लुई द सेकोंद मोंतेस्क्यू

(Charles-Louis de Secondat Montesquieu)

फ्रांसीसी नवजागरण के महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारक, दार्शनिक, इतिहासकार, उपन्यास लेखक और व्यंग्यकार चार्ल्स-लुई द सेकोंद मोंतेस्क्यू (1689-1755) को समाजशास्त्र की स्थापना का श्रेय दिया जाता है। वे पहले आधुनिक चिंतक थे जिन्होंने राजनीतिक संस्थाओं पर भूगोल, पर्यावरण और अन्य बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव को समझने का प्रयास किया। अमेरिकी संविधान के रचनाकार उनके योगदान को बहुत ऊँचे दर्जे पर रखते थे। एक सामंती भू-स्वामी, मजिस्ट्रेट और फ्रांस की एक स्थानीय संसद के अध्यक्ष के रूप में मोंतेस्क्यू तत्कालीन *ऑसिएँ रेज़िम* (पुराना राज्य) के अंग थे, लेकिन उनका सापेक्षतावाद उन्हें हर क्रिस्म की परिशुद्धता, निश्चितता और निरंकुशता के दावे पर संदेह करने की तरफ ले गया। उन्होंने न केवल चर्च द्वारा प्रवर्तित सिद्धांतों को बुद्धिवादी कसौटियों पर कसा, बल्कि नवजागरण की उस वैचारिक परम्परा की भी समीक्षा की जिसके वे खुद सदस्य थे।

मोंतेस्क्यू 1748 में प्रकाशित अपनी प्रमुख रचना *द स्पिरिट ऑफ़ द लॉ* से जाने जाते हैं। यह एक विशाल ग्रंथ है जिसे पढ़ना और समझना विद्वानों के लिए भी मुश्किल माना जाता है। मोंतेस्क्यू की लेखन शैली इस ग्रंथ के पाठक को चुनौती सी देती प्रतीत होती है। यह विवाद का विषय है कि अभिव्यक्ति का यह तरीका मोंतेस्क्यू ने जानबूझकर अपनाया था (शायद वे उस ज़माने के सेंसर को चकमा देना चाहते रहे होंगे), या फिर यह उनके लेखन की विफलता थी। मोंतेस्क्यू अपने विचारों को सेंसर किये जाने के अंदेश से परेशान रहते थे, इसलिए उनकी तीनों प्रमुख रचनाएँ *द स्पिरिट ऑफ़ द लॉ* के अलावा *पर्सियन लैटर्स* (1721) और 1734 में प्रकाशित *द क्रांजेज़ ऑफ़ द ग्रेटनेस ऐंड डिक्लाइन ऑफ़ द रोमंस*) फ्रांस से बाहर छद्म नामों से प्रकाशित हुई थीं।

मोंतेस्क्यू की बुनियादी मान्यता थी कि यह समूचा ब्रह्माण्ड अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ नियमों पर आधारित है। ये नियम वे अनिवार्य स्थितियाँ हैं जिनका बंधन ईश्वर तक को स्वीकार करना पड़ता है, और इन्हीं नियमों के कारण सृजनकारी गतिविधियाँ सम्भव होती हैं। मोंतेस्क्यू ने मानवीय व्यवहार से संबंधित नियमों को प्राकृतिक नियमों की संज्ञा दी और इनका संबंध मानवीय अस्तित्व के लिए आवश्यक सुरक्षा और प्रजनन जैसी अनिवार्यताओं से जोड़ा। लेकिन उन्होंने इन प्राकृतिक नियमों को नैसर्गिक वृत्ति न मानते हुए कहा कि

इन्हें मानवीय बुद्धि के आधार पर लागू किया जा सकता है। चूँकि मनुष्य बुनियादी रूप से असुरक्षा की मानसिकता के कारण डरा रहता है, इसलिए उसकी बुद्धि केवल शुरुआती तौर पर ही विकसित हो पाती है। इसे सक्रिय और परिष्कृत करने के लिए या तो दबाव या किसी उत्प्रेरण की ज़रूरत पड़ती है।

मोंतेस्क्यू के मुताबिक अपने जैसे ही प्राणियों के संसर्ग में जीवन के आनंदों और लाभों की प्राप्ति के ज़रिये मनुष्य सामाजिकता की उपलब्धि करता है। चूँकि मनुष्य में दूसरों का शोषण करने की प्रवृत्ति है इसलिए यही सामाजिकता अपने विकास की प्रक्रिया में संघर्ष पैदा करती है। हॉब्स की भाँति मोंतेस्क्यू भी मानते हैं कि मानव 'प्रकृत अवस्था' में आदिम और अराजक है। इसी स्थिति से पैदा हुई दुर्दशा और भयावहता के दबाव में उसकी सीमित बुद्धि उसे सकारात्मक नियमों के सूत्रीकरण की तरफ ले जाती है ताकि शांति और व्यवस्था की उपलब्धि हो सके। इसी प्रक्रिया में सरकार का उदय होता है।

सरकार क्या रूप लेगी यह 'प्रत्येक राष्ट्र की अपनी चेतना' द्वारा निर्धारित होगा और यह चेतना जलवायु, मिट्टी, व्यवसाय, इतिहास, भौगोलिक अवस्थिति, धर्म आदि कारकों के आधार पर बनेगी। मोंतेस्क्यू का यह सूत्रीकरण राजनीति का समाजशास्त्र रचने के पहले प्रयास के रूप में देखा जाता है। मोंतेस्क्यू सरकारों के तीन प्रकार बताते हैं : निरंकुश, गणतंत्र और राजशाही। ये तीनों बाहरी प्रभावों के तहत बदल भी सकते हैं। सरकार की 'प्रकृति' इस बात पर निर्भर करेगी कि सम्प्रभु सत्ता उसमें कहाँ स्थित है, और उसका 'सिद्धांत' अनुकूल मनःस्थिति का फलितार्थ होगा जिसके बिना सरकार कामयाबी से काम नहीं कर पायेगी। अपनी इस व्याख्या के आधार पर मोंतेस्क्यू इस नतीजे पर पहुँचे कि सरकार का निरंकुश स्वरूप मुख्यतः नियम विहीन और अप्राकृतिक है। यह बड़े साम्राज्यों और गर्म जलवायु का नतीजा होता है। गणतंत्रिक स्वरूप को उन्होंने कुलीनतंत्र और लोकतंत्र का मिश्रण करार दिया। इसमें रहने वाले लोग नागर गुणों और जन-भावना की गहरी अनुभूति से सम्पन्न होते हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर वे निजी हितों के ऊपर सार्वजनिक हितों को तरजीह देने में समर्थ हो पाते हैं। हालाँकि मोंतेस्क्यू गणतंत्र के प्रशंसक हैं, पर वे यह भी मानते हैं कि इस तरह की सरकार चलाने के लिए जितनी निस्वार्थ जनसेवा चाहिए उसके लिए नैतिकता के कुछ अन्य मानक स्थापित करने पड़ते हैं। इनके कारण नागरिकों का व्यक्तिवाद ओजहीन और जीवन किसी मठवासी जैसा हो जाएगा।

मोंतेस्क्यू को लगता है कि राजशाही अगर मध्यवर्ती शक्तियों (जैसे संसद, कुलीनवर्ग, पादरी आदि) द्वारा संयमित हो तो वह सरकार का सबसे अच्छा रूप मुहैया करा सकती



चार्ल्स-लुई द सेकोंद मोंतेस्क्यू (1689-1755)

है। इस लिहाज से वे इंग्लैण्ड की राजशाही की प्रशंसा करते हुए *द स्पिरिट ऑफ़ द लॉ* के ग्यारहवें अध्याय में अंग्रेजों को संविधान की विस्तार से चर्चा करते हैं। उनका कहना था कि 'सिद्धांत' के लिहाज से गौरव पर आधारित राजशाही में इंग्लैण्ड ने तिजारती आयाम का समावेश करके एक नयी बात पैदा कर दी है। इसके कारण स्वाधीनता के आधुनिक रूप के विकास की गुंजाइश खुल गयी है जिसके तहत जीवन का एक दायरा बन सकता है जिसमें व्यक्ति के ऊपर सामाजिक हस्तक्षेप की बंदिशें नहीं होंगी। मोंतेस्क्यू कहते हैं कि गणतंत्र के पुराने रूप में स्वाधीनता थी जिसके तहत नागरिक सत्ता में सीधी भागीदारी करते थे, पर वह स्वाधीनता के आधुनिक रूप जैसी नहीं थी। मोंतेस्क्यू ने सत्ता के कारण बँटवारे के लिए भी इंग्लैण्ड की प्रणाली की सराहना की।

एक कुलीन परिवार में जन्मे चार्ल्स-लुई द सेकोंद ने विश्वविद्यालय में कानून का अध्ययन करने के बाद अपने चाचा की विरासत के रूप में मोंतेस्क्यू के बैरन का पद प्राप्त किया। इसी विरासत ने उन्हें बोहॉदे की संसद की अध्यक्षता भी दिलवायी। *पर्सियन लैटर्स* के प्रकाशन से मोंतेस्क्यू को साहित्यिक ख्याति मिली। इस पत्र-शैली में लिखी गयी इस रचना के जरिये उन्होंने फ्रांसीसी जीवन, रीति-रिवाजों और राजनीतिक संस्थाओं पर व्यंग्यात्मक निगाह डाली। उन्होंने दो ईरानी यात्री कल्पित किये जो फ्रांस की यात्रा पर आते हैं और वहाँ के हालात को आश्चर्य और विनोद के भाव से देखते हैं। 1728 से 31 के बीच मोंतेस्क्यू ने युरोप की यात्रा की। कुछ दिनों तक इंग्लैण्ड में रहने के कारण उनकी चेतना पर वहाँ के

जीवन और राजनीति का गहरा असर पड़ा। रोम के उत्थान और पतन का अध्ययन करने के दौरान वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि रोमन इतिहास की रूपरेखा तय करने में रोमनों की बाह्य परिस्थितियों की निर्णायक भूमिका रही। अपने इसी सूत्रीकरण के आधार पर उन्होंने *द स्पिरिट ऑफ़ द लॉ* की रचना की।

मोंतेस्क्यू के बारे में माना जाता है कि उनके विचारों में मौलिकता के पहलू कुछ कम हैं। सरकार के उदय की परिस्थितियों के मामले में उनके सूत्रीकरण हॉब्स और रूसो की मिली-जुली याद ताज़ा कर देते हैं। ब्रह्मांड के नियम आधारित होने पर दिये गये उनके जोर पर सेंट थॉमस एक्विना की छाप लगती है। मोंतेस्क्यू से पहले अरस्तू भी यह बात कह चुके थे कि किस प्रकार भिन्न परिस्थितियाँ भिन्न संवैधानिक रूपों को जन्म देती हैं। इसी तरह उनके द्वारा की गयी इंग्लैण्ड के संविधान की चर्चा जॉन लॉक और हैरिंगटन की व्याख्याओं पर आधारित प्रतीत होती है। मोंतेस्क्यू द्वारा प्रवर्तित 'सत्ता के पार्थक्य' का सिद्धांत भी प्लेटो की उस तजवीज से प्रभावित लगता है जिसमें उन्होंने मिश्रित संविधान का उल्लेख किया है।

**देखें :** अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इंद्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, जाक लकाँ, ज्याँ फ्रांस्वा ल्योतर, ज्याँ-पॉल सार्त्र, जाक देरिदा, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, थियोडोर लुडविग वीजेनग्रंड एडोर्नो, द्वैतवाद, प्रत्यक्षवाद और उसका समाज-विज्ञान पर प्रभाव, फ्रेड्रिख नीत्से, बुद्धिवाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, युरोपीय पुनर्जागरण, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, सोरेन आबी कीर्केगार्द, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, ज्ञानमीमांसा।

### संदर्भ

1. एमाइल दुर्खाइम (1977), *मोंतेस्क्यू ऐंड रूसो : फ़ोरनर्स ऑफ़ सोसियोलॉजी*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. टी.एल. पेंगिल (1973), *मोंतेस्क्यूज़ फिलॉसफी ऑफ़ लिबरलिज़म*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो, आईएल.
3. आर. शेकिलटन (1961), *मोंतेस्क्यू : ए क्रिटिकल बायोग्राफी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. एम. रिचर (सम्पा.) (1977), *द पॉलिटिकल थियरी ऑफ़ मोंतेस्क्यू*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे



## चिपको आंदोलन

(Chipko Movement)

उत्तर प्रदेश के पहाड़ी इलाके (आज का उत्तराखण्ड) के चमोली जिले में जंगल कटने से बचाने के लिए चिपको आंदोलन की शुरुआत 1973 में हुई थी। पेड़ों को कटने या गिरने से बचाने के लिए आंदोलनकारी पेड़ों से चिपक जाते थे। इसी रणनीति के आधार पर पूरे आंदोलन को ही चिपको कहा जाने लगा। पहाड़ी क्षेत्र का पर्यावरण बचाने के लिए चलायी गयी यह अनूठी मुहिम पूरी तरह से अहिंसक और सत्याग्रही थी। उसका आग्रह था कि 'पेड़ नहीं, पहले हम कटेंगे'। इस नारे ने सरकार, वन मंत्रालय, मीडिया, ठेकेदार, राजनीतिक दल, ग्रामीण अनपढ़ों से लेकर विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों और वैज्ञानिकों तक का ध्यान अपनी तरफ खींचा। जंगल से जुड़े हर वर्ग को इस आंदोलन ने किसी न किसी तरह प्रभावित किया। आंदोलन की शुरुआत 1973 की एक सुबह तब हुई जब चमोली के सुदूर पहाड़ी कस्बे गोपेश्वर में इलाहाबाद की एक खेल का सामान बनाने वाली फ़ैक्ट्री के लोग देवदार के दस वृक्ष काटने लिए पहुँचे। आरम्भ में ग्रामीणों ने अनुरोध किया कि वे वृक्ष ना काटें। परंतु जब ठेकेदार नहीं माने, तो ग्रामीणों ने कटने जा रहे वृक्षों का घेराव किया और उनसे लिपट गए। ठेकेदारों को विवश होकर वापस जाना पड़ा। इस प्रसंग से लगभग तीन सदी पहले राजस्थान के बिश्नोई समाज के 363 लोगों ने खेजरी नामक वृक्ष बचाने के लिए उनसे चिपक कर अपने जीवन का बलिदान दे दिया था। वृक्ष काटने का आदेश जोधपुर के राजा का था। चिपको आंदोलन को इसी इतिहास की निरंतरता में देखा जाता है। चिपको आंदोलन को मुख्यतः महिला आंदोलन के रूप में भी देखा जाता है, लेकिन इसमें शामिल होने वाली महिलाओं के संघर्ष एवं उनके योगदान का इतिहास अब तक अदृश्य है। अदम्य साहसी स्त्रियों की भागीदारी वाला यह पर्यावरणीय आंदोलन स्त्रियों के नैतिक सरोकार और पर्यावरणीय दृष्टि का परिचायक था। आजीविका के सवाल पर हुए चिपको आंदोलन ने बाद में वन संरक्षण आंदोलन का रूप धारण कर लिया। यह आंदोलन जिस समय शुरू हुआ उस समय विकासशील दुनिया में पर्यावरण को लेकर कोई मुहिम शुरू नहीं हुई थी।

कुछ सप्ताह बाद ठेकेदार वापस आये और उन्होंने फिर पेड़ काटने की कोशिश की। पचास वर्षीय गौरा देवी के नेतृत्व में स्त्रियों ने इसका प्रतिरोध करते हुए जंगल जाने वाले मार्ग को रोक दिया। उनका कहना था कि 'यह जंगल हमारा मायका है और हम पूरी ताकत से इसे बचायेंगी'। ठेकेदार

एक बार फिर उनके इस संकल्प के कारण वापस जाने को विवश हो गये। नामक पुस्तक में विमला बहुगुणा ने इस आंदोलन का वर्णन करते हुए लिखा है : 'सुदूर हिमालय की पहाड़ियों में वनों की रक्षा के लिए हुए चिपको आंदोलन का समाचार जब बाहर की दुनिया में पहुँचा तो लोग आश्चर्यचकित हो गये, क्योंकि प्रायः यह माना जाता था कि नये विचारों और नये आंदोलनों का जन्म शहरों में होता है जहाँ बुद्धिजीवी रहते हैं। इसमें और भी चौंकने वाली बात यह थी कि इस आंदोलन की अग्रिम पंक्ति की सैनिक महिलाएँ थीं जिनका कार्यक्षेत्र घर के अंदर चौके-चूल्हे तक सीमित माना जाता है।'

भारत में जंगल के बारे में दो तरह के दृष्टिकोण हैं। पहला है जीवनोत्पादक और दूसरा है जीवन-विनाशक, जिसे दूसरे शब्दों में औद्योगिक भौतिकवादी दृष्टिकोण भी कहा जाता है। जीवनोत्पादक दृष्टिकोण जंगल और नारीत्व के दर्शन से बंधा हुआ जंगल के संसाधनों को निरंतरता नवीकरण की सम्भावनाओं के साथ चाहता है ताकि आहार और जल-संसाधनों का कभी न खत्म होने वाला भण्डार बना रहे। जीवन-विनाशक दृष्टिकोण कारखानों और बाजार से बंधा हुआ है जो जंगल के संसाधनों का अधिकाधिक दोहन अपने व्यावसायिक लाभ के लिए करना चाहता है। संसाधनों का यह दोहन उसके नवीकरण की सम्भावनाओं को समाप्त कर देता है। जब ब्रिटेन ने भारत को अपना उपनिवेश बनाया तो उसका सबसे पहला निशाना यहाँ के जंगल और उससे प्राप्त होने वाले बहुमूल्य संसाधन (मसाले, महँगी लकड़ी, जड़ी-बूटी और औषधीय पौधे) बने। उन्होंने यहाँ के स्थानीय निवासियों की समृद्धि और जंगलों के बारे में उनकी समृद्ध ज्ञान-परम्परा को नज़रंदाज़ किया। उनके अधिकार, उनकी आवश्यकताएँ और उनकी समझ को क्षीण करते हुए उनके जीवन के प्राथमिक आधार को जंगल से 'जंगल-खदान' में बदलना शुरू कर दिया। स्त्रियों के जीवन-निर्वाह के साधन रहे जंगलों ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद की व्यावसायिक अर्थव्यवस्था का स्थान ले लिया। मालाबार के टीक वृक्षों, मध्य भारत के शाल वृक्षों और हिमालय के शंकु वृक्षों का उपयोग ब्रिटिश उपनिवेशकों ने अपनी सेना, छावनी और रेलमार्गों के निर्माण के लिए किया। जंगल नष्ट करने का दोष हमेशा से स्थानीय लोगों पर लगाया जाता है। लेकिन सच्चाई यह है कि व्यावसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही हमेशा बड़े पैमाने पर वनों की कटाई की जाती है। हिमालय-क्षेत्र में व्यापक पैमाने पर हुई वनों की कटाई इस बात का सबूत है कि ब्रिटिश साम्राज्य की ज़रूरतों के लिए यह वनोन्मूलन किया गया था। अपनी प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के तहत भारतवासी जंगलों की अहमियत समझते हुए उसके संरक्षण के लिए हमेशा प्रतिबद्ध रहे हैं। चिपको आंदोलन के दौरान महिलाओं ने इसी परम्परा के तहत जीवन



वृक्ष और जंगल बचाने के लिए संघर्षरत चिपको आंदोलन की स्त्री-कार्यकर्ता

विनाशक दृष्टिकोण का पुरजोर विरोध किया था।

1988 में भारतीय भौतिकशास्त्री और पर्यावरणीय अनुसंधानकर्ता वंदना शिवा ने अपनी कृति *स्टेडिंग एलाइव : वुमैन, इकोलॉजी ऐंड सरवाइवल इन इण्डिया* की रचना की। चिपको आंदोलन के इतिहास की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा कि स्त्री-शक्ति को उभारने और उनमें पर्यावरणीय सरोकारों को जगाने में कई घटनाओं और व्यक्तियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। मीरा बहन, सरला बहन, विमला बहन, गौरा देवी, हिमा देवी, गंगा देवी, इतवारी देवी और अन्य कई पहाड़ी स्त्रियों ने चिपको के दौरान प्रतिरोध की संस्कृति की मशाल जलायी। इसके अतिरिक्त सुंदर लाल बहुगुणा, चंडी प्रसाद भट्ट, घनश्याम सैलानी जैसे पुरुषों ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। आंदोलन कुमाऊँ और गढ़वाल से होता हुआ उत्तराखण्ड के विभिन्न भागों में फैलने लगा। हर जगह स्थानीय महिलाओं ने इस आंदोलन का नेतृत्व किया। आंदोलन ने लगभग सभी पहाड़ी स्त्रियों को एक सूत्र में बांध दिया था। घनश्याम रतूड़ी के लोकगीतों और बहुगुणा, नेगी, भट्ट जैसे पर्यावरणीय कार्यकर्ताओं ने चिपको के संदेश और घटनाक्रम को गाँवों तक पहुँचाने में कामयाबी हासिल की।

पहाड़ी इलाकों में स्त्री-जीवन की सारी गतिविधियाँ जंगलों से जुड़ी होती हैं, इसलिए जंगलों का लगातार क्षय

और बढ़ता हुआ जल-संकट उनके जीवन का प्रमुख मसला था। आंदोलन के परचम के तले हजारों की संख्या में स्त्रियों ने उन व्यावसायिक कम्पनियों के विरुद्ध आंदोलन छेड़ दिया जो जल, जंगल, ज़मीन जैसे प्राकृतिक संसाधनों के रूप में न सिर्फ़ उनका अधिकार छीन रहे थे, बल्कि अपने व्यापारिक हित के लिए उन्हें नष्ट भी कर देना चाहते थे। चिपको आंदोलन ने उत्तर प्रदेश में बढ़ रहे पर्यावरणीय दोहन पर प्रतिबंध लगाने की माँग की, क्योंकि पहाड़ी इलाकों में हर जगह पेड़ों के बहुतायत में काटे जाने के कारण कटाव और भूस्खलन की घटनाएँ बढ़ रही थीं। 1975 तक 300 से ज़्यादा गाँव इन पहाड़ी हादसों का शिकार हो चुके थे। उत्तरकाशी में मतली और धराली, टेहरी में पिलखी और नांदगाँव, चमोली में चिमटोली और खिंझानी, अल्मोड़ा में बाघर और जागेश्वर जैसे कई इलाकों में पहाड़ों के भूस्खलन के कारण असंख्य जानें गयी थीं। महिलाओं ने इन कम्पनियों पर पूर्णतः प्रतिबंध लगाने की माँग भी की।

निश्चित रूप से स्त्रियाँ चिपको आंदोलन की प्रणेता थीं। उनके लिए यह प्राकृतिक संसाधनों और जीवन के बचाव का आंदोलन था। आंदोलन के आरम्भिक दिनों में बाहरी ठेकेदारों को भगाने में स्थानीय ठेकेदारों ने भी इनका भरपूर सहयोग किया क्योंकि उनके व्यावसायिक हित भी बाधित हो रहे थे। लेकिन बाहरी ठेकेदारों के जाने के बाद एक सरकारी निकाय (द फ़ॉरैस्ट डिवेलपमेंट कॉरपोरेशन) ने फिर वहाँ के स्थानीय ठेकेदारों की सहायता से लकड़ी कटायी शुरू कर दी। स्त्रियों ने यह देखते हुए अपना आंदोलन जारी रखा और एकबार फिर जंगल-दोहन के विरुद्ध खड़ी हो गयीं। उनके लिए यह महत्वपूर्ण नहीं था कि जंगल बाहरी लोग काट रहे थे या स्थानीय लोग। उनकी तकलीफ़ यह थी कि जंगल कट रहे थे, जल-स्तर लगातार नीचे जा रहा था।

वन विभाग के कई अधिकारियों ने उन्हें यह समझाने का भी प्रयास किया कि जंगल मुनाफ़ा देते हैं। उन्हें वे इसलिए काट रहे हैं और जो लकड़ियाँ काटी जा रही हैं उनका जंगल के लिए कोई उपयोग नहीं है। वे जर्जर और टूट हैं। महिलाओं ने उन्हें समझाया कि दरअसल यह जंगल के नवीकरण की प्रक्रिया है जिसमें पुराने और जर्जर पेड़ नये पेड़ों के लिए जैविक खाद का कार्य करते हैं। जंगल के संबंध में महिलाओं की समझ ने चिपको आंदोलन को एक नयी दिशा दी। आंदोलन के दर्शन और राजनीति में महिलाओं की वन संबंधी गहरी समझ और उनकी आवश्यकताओं को शामिल किया गया। एक तरफ़ जहाँ किसान महिलाएँ सामने आकर खुले तौर पर जंगलों के प्रति बाहरी विनाशकारी पूंजीवादी दृष्टिकोण को चुनौती दे रही थी, वहीं दूसरी तरफ़ अपने स्थानीय ठेकेदारों को भी, जो इस व्यवस्था के आर्थिक और राजनीतिक रूप से गुलाम हो चुके थे, ललकार रही थीं।

आज भी इस इलाके में चिपको आंदोलन की अनुगँज सुनायी देती है और यहाँ के लोग वन-संरक्षण और वृक्षारोपण जैसी गतिविधियों को लेकर अत्यंत सक्रिय रहते हैं।

**देखें :** चिपको आंदोलन, जैवविविधता, पर्यावरणीय नारीवाद, पारिस्थितिकवाद, पारिस्थितिकीय दर्शन, पेटेंट, भारत में पेटेंट कानून।

### संदर्भ

1. राधा कुमार, *स्त्री-संघर्ष का इतिहास*, वाणी, दिल्ली, 2002
2. वंदना शिवा, *स्टेइंग एलाइव*, काली फ़ॉर वुमैन, नयी दिल्ली, 1988
3. बी.बी. वोहरा, *द ग्रीनिंग ऑफ़ इण्डिया*, इनटेक्ट एनवायरनमेंट सीरीज़, दिल्ली।

— सुप्रिया पाठक

## चीन की कम्युनिस्ट क्रांति

(Chinese Communist Revolution)

चीन की कम्युनिस्ट क्रांति (1921-1949) बीसवीं सदी में दुनिया को सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाली राजनीतिक घटनाओं में से एक है। इस क्रांति ने न केवल 'सिक मैन ऑफ़ एशिया' कहे जाने वाले चीन को तेजी से विकसित हो कर दुनिया के सबसे ताकतवर देशों में से एक बनने का मौक़ा दिया, बल्कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद निचले औद्योगिक विकास और कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था वाले एशियाई, अफ्रीकी और लातीनी अमेरिकी देशों में राजनीतिक परिवर्तनों का रास्ता भी साफ़ किया। 1917 की रूसी अक्टूबर क्रांति से प्रेरित होने के बावजूद चीनी कम्युनिस्टों ने माओ त्से-तुंग के नेतृत्व में मास्को स्थित कोमिंटेर्न (कम्युनिस्ट इंटरनैशनल) के निर्देशों पर चलने से इनकार करते हुए अपना स्वतंत्र रास्ता चुना। क्रांति की प्रक्रिया बेहद लम्बी और पेचीदा साबित हुई। माओ और उनके साथी एक साथ जापानी फ़ौजों और कुओमिंगतांग की फ़ौजों से तो लड़े ही, उन्हें अपनी ही पार्टी के भीतर पैदा होने वाले रणनीति और कार्यनीति संबंधी मतभेदों से भी निबटना पड़ा। जापान और कुओमिंगतांग का पक्ष लेने वाली अंतर्राष्ट्रीय ताकतों (ब्रिटेन और अमेरिका) की साजिशों को नाकाम करना भी उनके लिए ज़रूरी था। विरोधाभास यह रहा कि यह अनूठी मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रांति सोवियत संघ और उसके नेता स्तालिन की तत्कालीन

राजनीतिक और सैद्धांतिक समझ के अनुकूल भी नहीं थी। चीनी कम्युनिस्टों की कामयाबी के कारण चीन और चीन जैसी परिस्थितियों में राष्ट्रीय मुक्ति का क्रांतिकारी आंदोलन चलाने के लिए मार्क्सवाद-लेनिनवाद के साथ माओ विचार को जोड़ा जाने लगा। इसी प्रक्रिया में विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन को सोवियत संघ से होड़ करने वाला उसका दूसरा केंद्र मिला। क्रांति के बाद चीन में किये गये समाजवादी समाज की रचना के प्रयोग भी न केवल सोवियत संघ से पूरी तरह अलग थे, बल्कि उनकी बुनियाद सोवियत अनुभव की सतत आलोचना पर टिकी हुई थी। इस क्रांति के गर्भ से मार्क्सवाद का एक भिन्न संस्करण निकला जो चीनी राजनीतिक विचार का सबसे ताज़ा चरण है।

ऐतिहासिक रूप से इस क्रांति की शुरुआत 1921 में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना से मानी जा सकती है। इसके बाद क्रांति की दीर्घकालीन प्रक्रिया चार चरणों से गुज़री। पहला दौर 1921 से 1927 तक चला। यह चीनी कम्युनिस्टों और चीनी राष्ट्रवादियों की पार्टी कुओमिंगतांग के बीच गठजोड़ की अवधि थी। दूसरा दौर 1927 से उस समय शुरू हुआ जब महान राष्ट्रवादी लोकतांत्रिक नेता सुन यात-सेन के निधन के बाद उनके उत्तराधिकारी च्यांग काई शेक ने गठजोड़ तोड़ते हुए कम्युनिस्टों के खिलाफ़ खूनी जंग छेड़ी। 1935 तक चला यह सिलसिला गृह युद्ध की अवधि और ऐतिहासिक लम्बी कूच के लिए भी जाना जाता है। तीसरा दौर 1937 से 1945 तक चला जब जापानी क़ब्जे के खिलाफ़ राष्ट्रवादी गठजोड़ के तहत जंग हुई। इस दौरान कम्युनिस्टों ने बाहरी दुश्मन को हराने के लिए कुओमिंगतांग की फ़ौजों के साथ मिल कर लड़ना स्वीकार किया, पर हर मौक़े पर उनके खिलाफ़ संघर्ष करने से भी नहीं चूके। 1945 में हिरोशिमा पर गिराये गये अमेरिकी एटम बम से जापान की कमर टूट गयी। ग्रामीण जनता के बीच तो कम्युनिस्ट पार्टी अपनी पैठ बना ही चुकी थी, पर उसने जल्दी ही शहरी मध्य वर्ग और बुद्धिजीवियों की हमदर्दी भी जीत ली। च्यांग काई शेक और उनकी पार्टी कुओमिंगतांग की राजनीतिक वैधता का तेजी से क्षय हुआ। उन्हें अमेरिकी समर्थन के दम पर ताइवान के छोटे से इलाके में सिमट जाना पड़ा। 1949 में कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चीन लोक गणराज्य की स्थापना हुई।

पहला दौर : चीन में मार्क्सवाद के प्रसार-प्रचार की शुरुआत का श्रेय 1919 में हुए चार मई के आंदोलन को दिया जाता है। दो साल पहले हुई अक्टूबर क्रांति के रैडिकल प्रभाव के कारण चीन के छोटे से मजदूर वर्ग में आंदोलनकारी बेचैनियाँ पैदा होने लगी थीं। बीसवीं सदी की शुरुआत का चीन एक तरफ़ तो ब्रिटेन, जर्मनी, फ़्रांस, रूस की ज़ारशाही और जापान की साम्राज्यवादी प्रतियोगिता में फँसा हुआ था, और दूसरी तरफ़ उसकी बहुसंख्यक खेतिहर जनता सामंतशाही



1935 में ऐतिहासिक लॉग मार्च खत्म होने के बाद लाल मुक्ति सेना को सम्बोधित करते हुए माओ त्से-तुंग.

की जकड़ में थी। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद साम्राज्यवादी होड़ में जापान ने अपनी स्थिति मजबूत करते हुए चीन पर कठपुतली सरकार थोपने में कामयाबी हासिल कर ली। जनवरी, 1919 को वरसाई शांति समझौते के समय साम्राज्यवादियों के सामने चीन की तत्कालीन सरकार के समर्पण के खिलाफ चार मई को पेकिंग के नाराज छात्रों ने उन तीन मंत्रियों के इस्तीफों की माँग की जिन्हें इसका जिम्मेदार माना जा रहा था। जून आते-आते यह आंदोलन एक तरफ तो जन-रोष की लहर में बदला, और दूसरी तरफ इसका केंद्र शंघाई हो गया जहाँ मजदूरों ने जबरदस्त हड़तालें और जुझारू संघर्ष के जरिये आंदोलनकारियों का साथ दिया। जल्दी ही यह मुहिम पूरे देश में फैल कर मजदूरों, छात्रों, व्यापारियों और अन्य तबकों के संयुक्त देशभक्तिपूर्ण ज्वार में बदल गयी।

इस आंदोलन के परिणामस्वरूप चीन में एक लोकतांत्रिक और रैडिकल संस्कृति की नींव पड़ी। इसी दौरान 'न्यू यूथ' और 'वीकली रिव्यू' जैसी कम्युनिस्ट प्रभाव वाली पत्रिकाओं ने मार्क्सवाद के प्रचार का जिम्मा सँभाला। इनकी बागडोर ली ता-चाओ के हाथों में थी। मार्क्सवाद के इस प्रभावशाली व्याख्याता को चीनी मार्क्सवाद का पितामह माना जाता है। देखते ही देखते हूनान, हूपेह और शानतुंग में भी मार्क्सवादी अध्ययन केंद्र बन गये। साल भर विभिन्न मोर्चों पर सक्रिय रहने के बाद इन केंद्रों को चलाने वाले समूहों ने आपस में जुड़ कर एक जुलाई, 1921 को शंघाई में कोमिंटर्न की मदद और निर्देशों के तहत कम्युनिस्ट पार्टी की पहली कांग्रेस की। इसमें 57 सदस्यों की नुमाइंदगी करने वाले 12 प्रतिनिधियों ने एक संविधान पारित करके अपने नेतृत्व का चुनाव किया। प्रतिनिधियों में नौजवान माओ त्से-तुंग भी शामिल थे। 1923 में पार्टी की तीसरी कांग्रेस हुई जिसमें सुन यात-सेन के नेतृत्व वाली राष्ट्रवादी कुओमिंगतांग के साथ गठजोड़ बनाने की कार्य दिशा अपनायी गयी। इस लाइन का सूत्रीकरण भी कोमिंटर्न के निर्देशों पर हुआ था। अगले साल जनवरी में कुओमिंगतांग ने अपनी कांग्रेस की जिसमें माओ और अन्य प्रमुख कम्युनिस्टों ने भी उल्लेखनीय भूमिका का

निर्वाह किया। कांग्रेस ने सुन यात-सेन के तीन उसूलों पर मुहर लगायी : साम्राज्यवाद और सामंतवाद का विरोध, क्रांतिकारी वर्गों की लोकतांत्रिक गठबंधन सरकार की स्थापना, जनता की रोजी-रोटी और कल्याण की चिंता, एवं सोवियत संघ के साथ दोस्ती। मई, 1924 में सोवियत संघ की मदद से सुन ने केंटन में व्हाम्पोआ फ़ौजी अकादमी की स्थापना की जहाँ कुओमिंगतांग की सरकार का मुख्यालय था। कम्युनिस्टों ने भी इसमें हिस्सा लिया। दरअसल, सोवियत संघ को लग रहा था कि जर्मनी की विफलता के बाद युरोप में क्रांति की सम्भावनाएँ

कमजोर हो गयी हैं। इसलिए पूर्व पर जोर दिया जाना चाहिए। मुख्यतः इसी कारण से कुओमिंगतांग की फ़ौजी ताकत बढ़ाने में मास्को ने काफ़ी संसाधन खर्च किये। साथ में उसने कम्युनिस्टों को उसके साथ संयुक्त मोर्चा बनाये रखने का निर्देश भी दिया। मास्को की समझ थी कि चीन को इस समय एक जनवादी (लोकतांत्रिक) क्रांति की ज़रूरत है जिसका नेतृत्व साम्राज्यवाद और सामंतवाद का विरोध करने वाले राष्ट्रवादी ही कर सकते हैं।

कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने तत्कालीन महासचिव चैन तु-हिसुई के नेतृत्व में कुओमिंगतांग से संयुक्त मोर्चे के दौरान उसके भीतर अपना प्रभाव बढ़ाने की योजना पर अमल करने का फैसला किया। जनवरी, 1925 में सुन यात-सेन का देहांत हो गया और कुओमिंगतांग की कमान च्यांग काई शेक के हाथों में आयी। अगले साल हूनान, हूपेह और कियांगसी में लाखों-लाख किसान आंदोलनों कूद पड़े। केवल हूनान की किसान सभा की सदस्यता तीन लाख थी। आत्मरक्षा के लिए बनायी गयी किसानों की सेना में एक लाख लोगों की भर्ती की गयी। 1926 में कम्युनिस्टों और कुओमिंगतांग ने मिल कर उत्तरी प्रांत के युद्ध-सरदारों और जापानी साम्राज्यवादियों की मिली-जुली ताकत के खिलाफ़ फ़ौजी मुहिम चलायी। छह महीने के भीतर-भीतर राष्ट्रवादी क्रांतिकारी सेना ने जीत हासिल कर ली। किसानों के विद्रोही उभारों ने सेना का हर जगह स्वागत किया। ऐसा लगने लगा कि क्रांतिकारी युद्ध की यह प्रक्रिया पूरे चीन को एक गणराज्य में एकताबद्ध कर देगी।

कम्युनिस्टों ने 27 मार्च, 1927 को शंघाई में मजदूरों की एक हथियारबंद बगावत का नेतृत्व किया, जो कामयाब रहा। नतीजतन शंघाई कम्यून की स्थापना हुई और शंघाई में जनता की सरकार के अधिकारी नागरिकों की रैली द्वारा चुने गये। इसी तरह से नानकिंग भी आज़ाद करा लिया गया। कम्युनिस्टों के प्रभाव में आये इस उछाल की प्रतिक्रिया में पहले नानकिंग में साम्राज्यवादियों ने कम्युनिस्टों के क्रल्ले-आम की मुहिम चलायी, फिर शंघाई में यही काम खुद च्यांग

की सेनाओं ने किया। अप्रैल तक कम्युनिस्टों का यह संहार क्वांगतुंग तक पहुँच गया। व्हामपोआ फ़ौजी अकादमी में कम्युनिस्टों से हथियार रखवा लिए गये। इस तरह कुओमिंगतांग और कम्युनिस्ट पार्टी के संयुक्त मोर्चे का अंत कम्युनिस्टों की ज़बरदस्त पराजय में हुआ। साम्राज्यवादियों, ज़मींदारों, नौकरशाहों और दक्षिणपंथी राष्ट्रवादियों ने कम्युनिस्ट विरोधी मोर्चा बना लिया। 1928 में अगस्त और जनवरी के बीच करीब एक लाख किसानों और मज़दूरों को मार डाला गया।

दूसरा दौर : कम्युनिस्ट पार्टी की इस पराजय के गर्भ से माओ त्से-तुंग के नेतृत्व का जन्म हुआ। बची हुई पार्टी ने चेन तु-हिसुई के नेतृत्व को ही खारिज नहीं किया, कोमिंटर्न की उस लाइन को भी ठुकरा दिया जिसके तहत कुओमिंगतांग के साथ मोर्चा बनाया गया था। माओ ने सूत्रीकरण किया कि चीन को जिस जनवादी क्रांति की ज़रूरत है वह नव-जनवादी क्रिस्म की होगी अर्थात् उस पर पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों का नहीं बल्कि किसानों-मज़दूरों के प्रतिनिधियों का नेतृत्व स्थापित किया जाएगा।

च्यांग के फ़ौजी हमले का जवाब देने के लिए चारु एन लाई और चू तेह के नेतृत्व में तीस हज़ार कम्युनिस्ट योद्धाओं ने नानचांग (कियांगसी प्रांत) को आज़ाद करा लिया। यह फ़ौजी अभियान चीनी जन-मुक्ति सेना की शुरुआत साबित हुआ। कई दूसरी जगहों पर कम्युनिस्टों के नेतृत्व में किसानों ने कुओमिंगतांग के हमलों का मुकाबला करने के लिए फ़ौजी बंदोबस्त किया। अगस्त में हुई इमरजेंसी कांफ़्रेंस में पार्टी ने अपने प्रभाव वाले इलाकों में किसान विद्रोहों का आह्वान किया। माओ को हूनान भेजा गया जहाँ उन्होंने न केवल किसानों की सेना गठित की, बल्कि चिंगकांग पहाड़ियों में क्रांतिकारी आधार इलाका भी स्थापित किया। यहीं माओ की सेना से चू तेह की सेना भी जुड़ गयी, और उन्होंने 1928 से 1931 के बीच अपने इस आधार के खिलाफ़ च्यांग की सेना द्वारा की गयी तीन घेरेबंदियों को पराजित करने में सफलता प्राप्त की। चिंगकांग में युद्ध लड़ते हुए ही माओ ने लाल आधार इलाके की थीसिस सूत्रबद्ध की। गृह युद्ध के इस दौर में कम्युनिस्ट पार्टी ने शहरों के बजाय अपना पूरा ध्यान देहाती इलाके पर लगाया। लाल सेना की संख्या बढ़ कर साठ हज़ार के पार पहुँच गयी। कई आधार इलाके भी बन गये।

लम्बी कूच : 1931 में जापानी सेना ने उत्तर-पूर्व चीन पर हमला किया। च्यांग की सेनाओं ने प्रतिरोध करने की नाकाम कोशिश की, पर उनकी कमज़ोरियों और ग़लत रणनीति के कारण तीन महीने के भीतर जापानियों का पूरे उत्तर-पूर्व पर क़ब्ज़ा हो गया। अगले साल जापानियों ने शंघाई पर हमला किया ताकि पूरे चीन को उपनिवेश में बदला जा सके। च्यांग को उनके साथ अपमानजनक समझौता करना

पड़ा। इसकी प्रतिक्रिया में चीनी समाज के भीतर च्यांग और जापान विरोधी भावनाएँ प्रबल हो गयीं। जापान विरोधी योद्धाओं ने अपने स्तर पर छापामार युद्ध शुरू कर दिया, और शंघाई में आठ लाख मज़दूरों ने जापान के हाथों से चीन को बचाने के लिए एसोसिएशन बनायी। लेकिन इन जन-भावनाओं से बेपरवाह हो कर च्यांग ने कम्युनिस्ट विरोधी फ़ौजी अभियान जारी रखा।

1933 में च्यांग ने कम्युनिस्टों की घेरेबंदी करने के लिए दस लाख की फ़ौज खड़ी की। अक्टूबर, 1934 में च्यांग की घेराबंदी तोड़ कर फ़ौजी पहलक़दमी छीनने के लिए माओ की रणनीति पर अमल करते हुए लाल सेना ने ऐतिहासिक लम्बी कूच शुरू की। एक साल तक कम्युनिस्ट सेना 11 प्रांतों, बर्फ से ढँकी पहाड़ियों और दुर्गम वनों को पार करती हुई चलती गयी। इस दौरान उसने च्यांग की सेना के साथ अनगिनत बार विजयी झड़पें कीं। तीन लाख फ़ौजियों में से बच कर कुल तीस हज़ार शेंसी प्रांत के लाल आधार इलाके तक पहुँचे। माओ ने दावा किया कि लम्बी कूच के कारण चीन के ग्यारह प्रांतों में क्रांति के बीज बोये जा सके, और यह साबित किया जा सका कि लाल सेना को किसी भी तरह से हराया नहीं जा सकता।

तीसरा दौर : 1937 में जापानियों ने पेकिंग के दस किमी. दूर मार्को पोलो पुल पर हमला बोला और उसके बाद फिर से शंघाई पर चढ़ाई कर दी। जापानी फ़ौजों की क्रूरता ने इस बार सारी सीमाएँ तोड़ दीं। चीनी जनता के गुस्से के मद्देनज़र च्यांग को कम्युनिस्टों के साथ गठजोड़ करना पड़ा। कुओमिंगतांग सरकार के प्रतिरोध को जापानियों ने आसानी से तोड़ दिया। अक्टूबर, 1938 तक केंटन और वूहान उनके हथे चढ़ चुके थे। पंद्रह महीनों के भीतर-भीतर च्यांग की फ़ौजें पेकिंग और शंघाई छोड़ने के लिए मजबूर हो चुकी थीं। लेकिन दूसरी तरफ़ अपने इलाकों में कम्युनिस्टों की आठवीं राह सेना ने और दक्षिण के छापामारों से बनी चौथी नयी सेना ने जापानियों पर जीतें हासिल करना जारी रखा। पार्टी ने छापामार और चलायमान युद्ध का मिश्रण अपना कर आक्रमणकारियों को कई बार शिकस्त दी। इसी दौरान माओ त्से-तुंग अपनी प्रमुख फ़ौजी रचनाएँ ले कर सामने आये जिनके परिणाम स्वरूप दीर्घकालीन लोक-युद्ध की थीसिस का सूत्रीकरण हुआ। 1940 तक कम्युनिस्ट सेनाएँ जापानियों से 150 काउंटियाँ छीन चुकी थी और चार लाख जापानी सैनिक मारे जा चुके थे। इसी समय माओ की रचना *ऑन न्यू डेमोक्रेसी* का प्रकाशन हुआ।

कम्युनिस्टों को जीतते देख कर च्यांग ने उनकी आठवीं राह सेना के मुख्यालय पर हमला किया, पर इसका नतीजा बहुत बुरी पराजय में निकला। 1941 तक च्यांग की रणनीति के खिलाफ़ कुओमिंगतांग में भी असंतोष पैदा होने लगा।

राजनीतिक परिस्थिति में भी तब्दीली आयी। ब्रिटेन व अमेरिका अभी तक इस लड़ाई को दूर से देख रहे थे, लेकिन उनकी तरफ से जापान को फ़ौजी मदद भी दी जा रही थी। नये हालात में उन्होंने जापान की मदद से हाथ खींच लिया और गृह युद्ध खत्म करवाने की पहल की। अप्रैल, 1945 तक लाल सेना ने जापान से लगभग सारे देश को स्वतंत्र करा लिया। सितम्बर में जापान को हथियार डालने पड़े।

चौथा दौर : इस समय स्थिति यह थी कि अमेरिकी समर्थन के बावजूद कुओमिंगतांग के पास केवल छह फ़ौजी चीन का नियंत्रण रह गया था। आज़ाद कराये गये क्षेत्रों में कम्युनिस्ट पार्टी ने खेतिहर सुधारों की मुहिम चलायी, युद्ध-सरदारों और ज़मींदारों के प्रभाव का उन्मूलन कर दिया। गृह युद्ध से बचने के समझौते के बावजूद च्यांग ने 13 लाख फ़ौजियों की सेना के साथ 11 प्रांतों पर धावा बोला जिसके कारण जन-मुक्ति सेना को बचाव की मुद्रा में आना पड़ा। अमेरिका ने च्यांग को कम्युनिस्टों के अंतिम सफ़ाये के लिए चार अरब डॉलर के बराबर की मदद की। जुलाई, 1947 से जुन-मुक्ति सेना ने बचाव की रणनीति छोड़ कर आक्रमण शुरू किया। 31 जनवरी, 1949 को कम्युनिस्ट सेनाओं ने पेकिंग पर कब्ज़ा कर लिया। सितम्बर खत्म होते-होते ज़्यादातर हिस्सों में कुओमिंगतांग की फ़ौजें पराजित हो चुकी थीं। एक अक्टूबर, 1949 को केंद्रीय जन-सरकार के चेयरमैन के रूप में माओ त्से-तुंग ने चीन लोक गणराज्य की स्थापना की घोषणा की।

देखें : आधार और अधिरचना, ऑस्कर लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8 और 9, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, कम्युनिस्ट पार्टियाँ-1, 2 और 3, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फ़ूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1, 2, 3, 4 और 5, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1, 2, 3, और 4, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

### संदर्भ

1. माओ त्से-तुंग (1960), *द मे फ़ोर्थ मूवमेंट : इंटलेक्चुअल रेवोल्यूशन इन मॉडर्न चाइना*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, एमए.
2. एडगर स्नो (1938), *रेड स्टार ओवर चाइना*, रैंडम हाउस, न्यूयॉर्क.
3. पिएर रूसेट (2009), 'चाइनीज़ कम्युनिस्ट रेवोल्यूशन, 1925-1949', *इमैनुएल नैस (सम्पा.)*, *द इंटरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रेवोल्यूशन ऐंड प्रोटेस्ट : 1500 टू प्रजेंट*, खण्ड-2, विली-ब्लेकवेल, ऑक्सफ़र्ड.

4. माओ त्से-तुंग (1972 : चार खण्ड), चाऊ एन लाई (1980) और चू तेह (1983) की चुनी हुई रचनाएँ, प्रकाशक : पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, पेइचिंग.
5. मॉरिस मीज़नर (1999), 'दि सिग्नीफ़िकेंस ऑफ़ चाइनीज़ रेवोल्यूशन इन वर्ल्ड हिस्ट्री', वर्किंग पेपर, एशिया रिसर्च सेंटर, लंदन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स ऐंड पॉलिटिकल साइंस, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

## चीनी इतिहास-लेखन

(Chinese History Writing)

एशियाई इतिहास-लेखन की परम्पराओं में चीनी इतिहास-लेखन का विशिष्ट स्थान है। इस परम्परा पर धर्म का प्रभाव न के बराबर है। वह पैगम्बरों, अलौकिक प्रकरणों, जादू या चमत्कारों के बारे में चर्चा नहीं करती। उस पर कन्फ़्यूशस के चिंतन की स्पष्ट छाप है। चूँकि कन्फ़्यूशसवाद विद्वानों-नौकरशाहों की विचारधारा थी इसलिए इतिहास-लेखन का ज़्यादातर काम इन्हीं लोगों ने किया। चीनी चिंतन-परम्परा शुरू से ही व्यक्ति की तुलना में समाज को सर्वोपरि मानती है। चीनी समाज में सामाजिक नियमों का पालन और परम्पराओं का सम्मान करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए अति-आवश्यक माना गया है। वहाँ मनुष्य की श्रेष्ठता का मानक विभिन्न सामाजिक आचारों और संबंधों का सम्यक निर्वहन है। चीनी मान्यता के अनुसार पूर्व-स्थापित नियमों और परम्पराओं का पालन करके ही समाज में शांति-व्यवस्था क्रायम की जा सकती है। इसी वजह चीन निवासी अमूर्त की अपेक्षा पूर्व-दृष्टांतों को अधिक महत्त्व देते हैं। उनके विचार में समाज और संस्कृति के प्राचीन अनुभवजन्य परिणाम किसी व्यक्ति विशेष की चिंतन-शक्ति से ज़्यादा प्रामाणिक और औचित्यपूर्ण होते हैं। जीवन के संयमन और नियमन के लिए अमूर्त और भावमय विचार उतने कारगर नहीं हो सकते जितने कि अतीत के विभिन्न पक्षों से प्राप्त अनुभव। चीनियों के लिए ज्ञान के मायने हैं अतीत के दृष्टांतों का ज्ञान। इसीलिए ज्ञान को चि-कु कहा गया है जिसका अर्थ होता है प्राचीन मार्गों का अन्वेषण।

प्राचीन काल में संकलित पाँच उत्कृष्ट ग्रंथों को चीन में जीवन का मानक समझा जाता है। इन्हीं ग्रंथों में मानव-अनुभवों के विभिन्न प्राचीन दृष्टांतों का संकलन है और यह माना जाता है कि मानव-जीवन में चाहे जितने बड़े परिवर्तन

आ जाँएँ लेकिन इन ग्रंथों में सारे सत्य बने रहेंगे। कन्फ्यूशस ने भी इन पाँच ग्रंथों को अपरिहार्य माना था। अन्य विचारकों ने भी इन्हें मान दिया। चीनी चिंतन में 'ली' की अवधारणा भी महत्वपूर्ण है। पहले इसका प्रयोग केवल धार्मिक आनुष्ठानिक कृत्यों में होता था पर बाद में विभिन्न सामाजिक महत्त्व के कृत्यों के लिए भी होने लगा। कन्फ्यूशस तथा उसके अनुयायियों ने 'ली' को नैतिक अर्थ प्रदान करके इसे समाज तथा वैयक्तिक जीवन का नियामक तत्त्व माना। कहा गया कि इसके अभाव में समाज और निजी जीवन अशांति, अव्यवस्था तथा उच्छृंखलता से ग्रस्त हो जाते हैं। 'ली' विभिन्न स्वाभाविक वृत्तियों को समाज द्वारा स्वीकारणीय आकार प्रदान करता है तथा जीवन के सभी कर्मों में आत्म-नियंत्रण का अनुप्रवेश करता है। उदाहरणार्थ, यदि साहस के ऊपर 'ली' का नियंत्रण न हो तो वह अविचारी दुःसाहस का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। परस्पर विषम सामाजिक स्थितियों में रहने वाले लोगों के बीच जो सामंजस्य दिखाई पड़ता है, वह इस 'ली' के नियंत्रण के ही कारण है। सुव्यवस्थित तथा सुखी जीवन के लिए ली का ज्ञान तथा पालन परम आवश्यक है।

इन्हीं वैचारिक पृष्ठभूमियों के साथ चीन में इतिहास-लेखन की शुरुआत हुई। समाज और संस्कृति के प्राचीन अनुभवों के महत्वपूर्ण होने के दृष्टिबोध तथा इसकी व्यवहारिक उपयोगिता ने चीनी समाज में इतिहास-रचना को महत्त्व प्राप्त हुआ। यह अलग बात है कि कुछ प्रमुख स्रोत-ग्रंथों की तिथि की अनिश्चित होने की वजह से चीन का प्रारम्भिक इतिहास-लेखन अस्पष्ट-सा हो गया है। यही नहीं, इतिहास के लिए प्रयुक्त होने वाला 'शिह' शब्द अपने मौलिक अर्थ में भिन्न समझा जाता रहा है। इसका निराकरण काफ़ी बाद में जाकर हुआ। ऐसी मान्यता है कि शिह पढ़ने-लिखने वाला ज्ञान-सम्पन्न तथा महत्वपूर्ण कार्यों में राजा का प्रमुख परामर्शदाता होता होगा। प्रारम्भ में ऐतिहासिक विवरणों की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी उसके ऊपर थी। बाद में सभी प्रकार के विवरणों का संरक्षण करना उसके कार्य क्षेत्र में आ गया तथा उसके पद की प्रतिष्ठा भी बढ़ती चली गयी।

शिह एक इतिहासकार था जो चीन के प्रारम्भिक इतिहास-लेखन के दौर में दरबारों के कार्य-कलापों, धार्मिक, अनुष्ठानों तथा महत्वपूर्ण राजकीय कार्यों से सम्बद्ध एक अर्ध-धार्मिक दायित्व निभाता था। कालांतर में वह प्रलेखों का संरक्षक अथवा दैनन्दिन ऐतिहासिक वृत्तों का विवरणकार बना। चीन के दो प्रसिद्ध ग्रंथ *शुचिंग* और *छुन छिंग* के ज़रिये भी इस बात का पता चलता है। *शुचिंग* में चीन के प्राचीन शासकों तथा उनके परामर्शदाताओं से संबंधित भाषणों, राजाज्ञाओं एवं उपदेशों का संग्रह है। चीनियों की स्वयं की मान्यता के अनुसार यह शब्दों का संग्रह है। *छुन छिंग* तथ्यों

का संग्रह है जिसमें उपदेशात्मक प्रवृत्तियों का अभाव दिखता है। यह चीनी इतिहास लेखन का पौराणिक काल है।

लि-चि में एक अभिकथन मिलता है कि जब सम्राट किसी कार्य में प्रवृत्त होता है तो उसका लेखन दक्षिण पार्श्व के इतिहासकार द्वारा किया जाता है। जब वह कुछ कहता है तो उसके लेखन का कार्य-भार वाम पार्श्व के इतिहासकार का होता है। इतिहासकार का महत्त्व सिर्फ धार्मिक और अनुष्ठानात्मक ही नहीं था बल्कि वह प्राचीन शासकों के नैतिक गुरु और निदेशक की भूमिका में भी होता था।

चीन की इन इतिवृत्तियों के विषय में बहुत कम जानकारी मिलती है तथा इनमें से बहुत कम ही बची हुई हैं। इनमें से *बसंत एवं शरद इतिवृत्त* (छुन-छिंग) चीनी इतिहास-परम्परा पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है तथा इतिहास लेखन के प्रतिमान स्वरूप में महत्वपूर्ण माना जाता है। *बसंत एवं शरद इतिवृत्त* में लु राज्य (722-481 ईसा पूर्व) के बारह सामंतों के युगों के आंतरिक मामलों, कूटनीतिक सभाओं, सामंतीय युद्धों, अन्य राज्यों के साथ संबंधों, ग्रहण, बाढ़, भूकम्प तथा अन्य प्राकृतिक प्रकोपों का विवरण उपलब्ध हैं। यह कन्फ्यूशसवादी रचना मानी जाती है, जिसे काफ़ी लोकप्रियता हासिल है। *बसंत तथा शरद इतिवृत्त* द्वारा तथ्यों का सावधानीपूर्वक लेखन तथा उनकी निर्भीक एवं पूर्वग्रहविहीन समीक्षा चीनी इतिहास-लेखन का महत्वपूर्ण मानदण्ड है। इस ग्रंथ ने चीनी इतिहास लेखन को काफ़ी प्रभावित किया।

सुमा-चिएन (145-90 ईसा पूर्व) चीन के प्रमुख इतिहासकार थे। उन्होंने अपने 130 अध्याय वाले ग्रंथ *शिह-ची* में अति-प्राचीन काल से लेकर अपने समकालीन चीनी तथा अन्य विदेशी जातियों के इतिहास का विवरण दिया है। इस कृति ने दो हजार साल तक के काल विस्तार को समेटा है। चीन, कोरिया तथा जापान के इतिहास-लेखन पर उसका प्रभाव दिखता है। सुमा-चिएन ने अपने इस ग्रंथ में पाँच मुख्य शासक-वंशों एवं सामंत कुलों का इतिहास संकलित किया। उन्होंने अतीत के कार्य-व्यापारों एवं घटनाओं का परीक्षण एवं उनकी सफलताओं एवं विफलताओं, उनके उत्थान तथा पतन के पीछे स्थित सिद्धांतों का अनुसंधान करना अपने इतिहास-लेखन का लक्ष्य उद्घाटित किया है। सुमा-चिएन के लिए इतिहास-लेखन नैतिक और उपदेशात्मक प्रयास भी है।

सुमा-चिएन के लगभग डेढ़ सौ वर्षों बाद पान कु नामक इतिहासकार ने तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व हान-शु वंश की स्थापना से लेकर अनाधिकार रूप से सत्ता हस्तगत कर लेने वाले वांग मिंग के पतन के बाद 23 ई. के शासक-वंश से सम्बद्ध कुल के पुनःस्थापन तक का दो शताब्दियों तक का इतिहास लिखा है। हान वंश का पान कु रचित इतिहास *शिह-ची* के स्वरूप-आधार पर लिखा गया है। सुमा-चिएन ने

शिह-ची की रचना व्यक्तिगत प्रयास से की थी। इसी तरह से पान कु ने अपने पिता पान-पिआओ द्वारा रचित *होट चुआन* का विस्तार व्यक्तिगत हैसियत से किया। आगे चल कर इस कार्य को सम्राट मिंग का समर्थन और सहयोग प्राप्त हुआ। पान कु ने अपने इतिहास-लेखन में समीक्षात्मक दृष्टि अपनायी है।

हान युग में इतिहास-लेखन में काफ़ी प्रगति हुई। इस दौर में विद्वानों की इतिहासकार के पद पर नियुक्ति होने लगी। पहले दरबार का ज्योतिषी ही इतिवृत्तिकार का काम करता था। कालांतर में यह परम्परा समाप्त कर दी गयी और ऐतिहासिक वस्तु-सामग्री तक बाहरी लोगों की भी पहुँच हो गयी। प्रथम शताब्दी में पान कु तथा अन्य विद्वानों की राजकीय पदाधिकारी के रूप में नियुक्ति की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप सातवीं शताब्दी में इतिहास-लेखन के विभाग की स्थापना हुई। इसी दौर में विश्लेषणात्मक इतिहास का उद्भव हुआ। सन्-युएह ने *हान-शु* का संक्षिप्त संस्करण तैयार किया और विश्लेषणात्मक ढंग से वस्तु-सामग्री व्यवस्थित करके जीवनियों एवं उपलब्ध सूचनाओं को जोड़ा गया। इतिवृत्तात्मक ग्रंथों में सु-मा-कुअंग लिखित *सु-चिन्ह तुइ चिएन* भी उल्लेखनीय है। तथ्यगत शुद्धता के लिहाज से *शिह-ची-हान-शु* एक प्रमाणिक ग्रंथ ठहरता है। चिंग वंश के अंतर्गत मान्यता प्राप्त चौबीस मानक इतिहासों में से नौ में तंग वंश से मिंग वंश तक की विषय-सामग्री है जिनमें 618 से लेकर 1644 के बीच पूरे चीन या चीन के विभिन्न भू-खण्डों में शासन करने वाले राजवंशों के राजकीय प्रलेखों का संचयन है। इनके आधार पर चीन में राज्य प्रायोजित इतिहास-लेखन के स्वरूप और संरचना को समझा जा सकता है।

चीनी इतिहास ग्रंथों की विशिष्टता इस बात में है कि सभी ग्रंथ विनष्ट शासक-वंशों के बाद लिखे गये। आने वाले राजवंशों ने अपने से पूर्व विनष्ट वंश के समय की घटनाओं एवं शासन-शासक के विषय में लिखवाया। यह परम्परा लगातार चलती रही। इतिहास लेखन का सारा काम राज्य-प्रायोजित इतिहासकारों ने किया। इतिहास-लेखन की निरंतरता के पीछे वजह यह रही कि प्रत्येक शासक अपने से पहले के राजवंशों के बारे में जानना आवश्यक समझता था। 1369 में मिंग शासन वंश के संस्थापक सम्राट ताई-त्सु ने अपने दरबार को सम्बोधित करते हुए कहा कि अभी युवान राजधानी (पीकिंग) के पतन के बाद हमें तेरह शासकों के विश्वसनीय लेख प्राप्त हुए हैं। हालाँकि उनका राज्य नष्ट हो गया है फिर भी इसकी घटनाओं का लेखन किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त इतिहास सफलता एवं विफलता का वृत्तांत प्रदान करता है जिससे एक ओर प्रोत्साहन और दूसरी ओर चेतावनी मिलती है। इस कारण इसका परित्याग उचित नहीं है।

इस तरह से और भी कई उद्धरण मिलते हैं जिनसे चीनियों की इतिहास के प्रति गहरे रुझान का पता चलता है। वंगओ नामक एक विद्वान का कथन है कि राज्य नष्ट हो सकता है किंतु इतिहास कभी नष्ट नहीं होता। इतिहास-लेखन को लेकर चीन में ऐसी धारणा रही है कि इतिहासकार आकाश के नीचे के स्थित सभी लोगों एवं भावी पीढ़ियों के प्रति उत्तरदायी होता है। इतिहासकार की स्वतंत्रता तथा निष्पक्षता को बनाये रखने के लिए शासन से यह उम्मीद की जाती थी कि वह अपने शासनकाल की कार्य या विश्राम की दैनंदिनी न पढ़े। इस परम्परा का अनुपालन भी होता था लेकिन अपने शासन-काल के तथा विनष्ट वंश के संबंध में सभी लेखन शासक के अंतिम अनुमोदन के लिए लाये जाते थे। मिंग तथा चिंग शासनकाल में ऐतिहासिक इतिहासकारों को राजकीय निर्देश भी जारी होते थे और सम्भवतः इतिहासकारों को ये राजकीय निर्देश प्रभावित भी करते होंगे। चीनी इतिहास-लेखन की परम्परा में सत्यगोपन का सिद्धांत भी प्रचलन में था। *बसंत शरद् इतिवृत्त* की टीका *कुंग-यंग* के अनुसार कन्फ्यूशस तीन तरह के लोगों की गलतियों के संगोपन के पक्ष में थे : जो आदरणीय हों, जो घनिष्ठ संबंधी हों तथा जो योग्य हों। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसे लोगों की गलतियों को नैतिकता में वृद्धि के लिए यथास्थान उल्लिखित नहीं करना चाहिए।

**देखें :** *अनाल स्कूल, अरनॉल्ड जोसेफ टॉयनबी, इतिहास और आख्यान, ओसवालड स्पेंगलर, फ्रैंक ब्राँडेल, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क ब्लॉक, ल्यूसियाँ फ्रेन्न*।

### संदर्भ

1. गोविंद चंद्र पाण्डेय (सम्पा.) (), *इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धांत*, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर.
2. डेविड मॉर्गन (), 'द एवोल्यूशन ऑफ़ टू एशियन हिस्टोरियोग्राफ़िकल ट्रेडिंशंस', माइकिल बेंटली (सम्पा.), कम्पैनिन टू हिस्टोरियोग्राफी, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.
2. हाजमे नाकामुरा (1961), *वेज ऑफ़ ईस्टर्न पीपुल्स*, न्यूयॉर्क 1961, पृ. 204-5
3. बर्टन वाटसन (1963), *सुमा-चिएन, द ग्रैंड हिस्टोरियन ऑफ़ चाइना*, न्यूयॉर्क.

—अजय कुमार पाण्डेय



## चेतना

(Consciousness)

चेतना अर्थात् अपने परिवेश के प्रति जागरूकता, उसके भीतर अपनी अवस्था और उसके साथ अपने संबंध की समझ। इस विशेषता को अपने चेतन होने की चेतना के रूप में भी व्यक्त किया जाता है। मस्तिष्क अगर चेतन है तो उसमें अपना विवरण देते रहने की सामर्थ्य होगी। लेकिन चेतना की यह परिभाषा उससे जुड़ी हुई दार्शनिक उलझनों का समाधान करने के लिए पर्याप्त नहीं है। पहली उलझन तो हमेशा से यही रही है कि क्या चेतन होने का यह गुण केवल मनुष्यों के पास ही होता है? या कुछ अन्य उच्चस्तरीय स्तनपायी जीवों के पास भी यह खूबी किसी न किसी मात्रा में होती है? न केवल पश्चिमी विचार-परम्परा में चेतना को तरह-तरह से समझा गया है, बल्कि भारतीय परम्परा में भी उसकी एक से अधिक व्याख्याएँ मौजूद हैं। चेतना की प्रकृति से संबंधित विवाद मुख्यतः दो ध्रुवों में बँटा हुआ है। एक तरफ चेतना को समझने की भौतिकवादी दृष्टि है जो जगत की वस्तुनिष्ठता पर भरोसा करती हुई मानस के दैहिक सिद्धांत के इर्द-गिर्द अपनी व्याख्याएँ बुनती है। दूसरी दृष्टि चेतना के सार को दैहिकता और वस्तुनिष्ठता में सीमित करने के बजाय उसकी संरचनाओं की खोज अपार कल्पनाशीलता और भाषिक अभिव्यक्तियों के विपुल संसार में करना चाहती है। यह दृष्टि मानती है कि चेतन अनुभव एक अनूठे आत्मनिष्ठ गुण से सम्पन्न होता है जिसका सार केवल वस्तुनिष्ठ विवरणों के ज़रिये प्राप्त नहीं किया जा सकता।

सत्रहवीं सदी में देकार्त ने सोचने की प्रक्रिया को चेतना करार देते हुए कहा था कि सचेत विचार मानस का सार है, और अपने सचेत मानस तक पहुँचने की खूबी केवल मानवों के पास ही होती है। देकार्त ने मानस को एक अ-भौतिक पदार्थ मान कर देह के साथ उसके द्वैत की स्थापना की। परिणामस्वरूप बहस पैदा हुई कि अगर इन दोनों की प्रकृति मूलतः इतनी अलग है तो फिर इनके बीच परस्पर प्रभावित करने वाला आपसी कार्य-कारण संबंध कैसे बनता है। आधुनिक दर्शन लगातार इस प्रश्न से जूझता रहा है। भौतिकवाद के पैरोकार मानस की व्याख्या भौतिक और जैविक अर्थों में करते हैं। व्यवहारवाद के अनुयायियों का कहना है कि मानस का कार्यकलाप अपने परिवेश से मिलने वाले सूत्रों और प्रेरणाओं के प्रति की गयी अनुक्रियाओं पर निर्भर है। व्यवहारवादी किसी आंतरिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को स्वीकार नहीं करते। फ्रॉयड का विमर्श चेतना की शिनाख्त मानसिक तंत्र की प्रमुख अभिव्यक्ति के रूप में करता है। इस

विमर्श में मानसिक तंत्र के भीतर चेतना के अलावा अवचेतन और पूर्व-चेतन अवस्था की चर्चा भी है।

देकार्त द्वारा चिंतन करने वाले असंदिग्ध अस्तित्व के रूप में 'मैं' को परिकल्पित करने का रैडिकल नतीजा यह निकला कि धीरे-धीरे ब्रह्माण्ड के बजाय मनुष्य दार्शनिक ऊहापोह का केंद्र बनता चला गया। चेतना के संदर्भ में मनुष्य के बाह्यांतर और अभ्यांतर को समझने की चेष्टाएँ होने लगीं। लॉक ने 'कांशसनेस' शब्द का पहली बार प्रयोग करते हुए उसकी परिभाषा व्यक्ति के मानस में संसाधित होने वाले बोध के रूप में की। इस तरह चेतना मानवीय व्यवहार, समाज, भाषा और ज्ञान के लिए बुनियादी महत्त्व की अवधारणा बन गयी। लॉक के आधार पर चेतना की एक यह परिभाषा भी दी गयी है : चेतना की गति के माध्यम से ही मानस अपने आकार-प्रकार के प्रति जागरूक होता है और आसन्न परिवर्तनों के मुकाबले उसे क्रायम रखने का काम अंजाम देता है। इस प्रक्रिया में संवेदी अनुभूतियों, बोध, मन और प्रवृत्तियों की भूमिका होती है। यह सारा सिलसिला देह और मानस के एक्य के तहत चलता है अर्थात् देह के बिना कोई मानस नहीं हो सकता।

भारतीय दर्शन में अद्वैतवाद भी व्यक्ति के सार और उसकी चेतना के बीच भेद के बजाय तादात्म्य देखता है। उपनिषदों में चेतना के चार चरणों का उल्लेख है जो यथार्थ के चार बोध हैं : जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था, सुसुप्तावस्था और तुरीय अवस्था। जाग्रत अवस्था में कर्ता चेतना के ज़रिये अपने से भिन्न अस्तित्वों का बोध करता है। स्वप्नावस्था भी कर्ता से भिन्न मानस-उद्भूत संसार का बोध कराती है। सुसुप्तावस्था स्वप्नरहित गहन निद्रा है जिस दौरान आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ के बीच अंतर करने वाला कोई बोध कार्यरत नहीं होता। तुरीय अवस्था चेतना की ऐसी स्थिति है जिसमें आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ के विभाजन के परे जाते हुए व्यक्ति लोकोत्तर स्थिति में पहुँचता है। भारतीय दर्शन में ही वेदों का प्राधिकार खारिज करने वाले भौतिकवादी दर्शन लोकायत ने पश्चिम की भौतिक चेतना को देह से पृथक या देह का अंग बताने के बजाय उसे कुछ तत्त्वों के विशेष संयोग का परिणाम करार दिया है। चूँकि मृत्यु इन भौतिक तत्त्वों का समीकरण बदल देती है, इसलिए देहांत से चेतना तिरोहित हो जाती है। बौद्ध चिंतन ने भी वेद आधारित दर्शनों द्वारा वर्णित चेतना के प्रकारों को खारिज करते हुए उसकी व्याख्या विभिन्न अनुभवों के आधार पर बनने वाली प्रवृत्तियों के रूप में की है।

दुर्खाइम द्वारा डाली गयी समाजशास्त्रीय परम्परा ने समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक के बीच विभाजन पर जोर दिया है। उसके लिहाज से सामाजिक दायरे में केवल सामाजिक शक्तियाँ ही कार्यरत रहती हैं और यह दायरा

केवल समाज संबंधी तथ्यों से मिल कर ही बनता है। इस लिहाज से यह परम्परा निजी चेतना को अप्रासंगिक मानते हुए केवल सामूहिक चेतना को ही रेखांकित करती है जिसके तहत सभी लोग सामूहिक प्रतिनिधित्व के जरिये समाज के कार्यकलाप में भागीदारी करते हैं। क्लिफर्ड गीर्टज़ ने यह तो माना कि मानवीय अस्तित्व की प्राथमिक शर्त जीवन पर किन्हीं तात्पर्यों का आरोपण ही है और इसी तरीके से मनुष्य व्यक्ति में बदलता है। लेकिन गीर्टज़ के इस कथन के बावजूद समाजशास्त्र चेतना के व्यक्तिगत रूपों की शिनाख्त मनुष्य की सामाजिक या सांस्कृतिक परिस्थितियों के संरचनागत तर्क के आधार पर करता रहा। यह मान्यता बनी रही कि अमुक समुदाय, वर्ग या भूमिका में रहने के लिए व्यक्ति को अमुक चेतना की आवश्यकता पड़ेगी। मानवशास्त्रियों ने चेतना से संबंधित समस्याओं का हल खोजने के लिए समूचे समाजों के विचारों और आस्थाओं का सामान्यीकरण करके व्यक्ति को सामूहिक विचार-सत्ताओं की मातहत में देखना शुरू कर दिया।

बीसवीं सदी के आखिरी वर्षों में व्यक्तिगत चेतना और सामूहिक चेतना के आपसी संबंधों पर किये जाने वाले चिंतन में तब्दीलियाँ हुई हैं। समाजशास्त्री इस नतीजे पर पहुँचते जा रहे हैं कि व्यक्ति को समाज के ऊपर प्राथमिकता देने या उसे सामाजिक चेतना के अधीन बताने के बजाय सामाजिक संबंधों की अधिक परिष्कृत समझ पर पहुँचने की चेष्टा करनी चाहिए। आखिरकार समाज अन्योन्यक्रिया करते हुए व्यक्तियों से ही मिल कर बना है। इसी तरह सामाजिक यथार्थ भी चेतनासम्पन्न व्यक्तियों की निरंतर जारी व्याख्याओं का ही नाम है।

मानवशास्त्रियों को अब लगने लगा है कि बाह्यांतर और अभ्यांतर के द्विभाजन पर आधारित पद्धति दरअसल चेतना के प्रश्न से कतराने की कोशिश ही थी। अब यह कहना काफी नहीं रह गया है कि मानवशास्त्र का सरोकार तो केवल इंद्रियानुभविक तथ्यों तक सीमित है और सभी तरह के अनुभूतिजन्य तथ्यों की जाँच गल्प, दर्शन या मनोविज्ञान के अनुशासनों द्वारा की जानी चाहिए। चूँकि मानवशास्त्र अब साहित्यिक मोड़ ले चुका है, इसलिए अब विद्वानों को व्यक्तिगत, राजनीतिक और चिंतनपरक ढंग से लिखना चाहिए। युरोप और अमेरिका के मानवशास्त्री अब अन्य समाजों और संस्कृतियों को समझने के लिए उनके सचेत मानस या उनके आभ्यंतर में झाँकने के प्रयास भी करने लगे हैं। इस लिहाज से मानवशास्त्री की चेतना उसके अनुसंधान के विषय की चेतना के साथ अभिन्न रूप से संबंधित हो गयी है। चेतना का प्रश्न मानवशास्त्रीय संधान और उसकी पद्धति के लिए केंद्रीय हो गया है।

**देखें :** अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इंद्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उदारतावाद,

कल्पित समुदाय, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, जॉन लॉक, ज़ाक लार्को, ज्यॉ-फ्रांस्वा ल्योतर, ज्यॉ-पॉल सार्त्र, ज़ाक देरिदा, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, द्वैतवाद, प्रत्यक्षवाद और उसका समाज-विज्ञान पर प्रभाव, फ्रेड्रिख नीत्शे, बुद्धिवाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, युरोपीय पुनर्जागरण, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, सोरेन आबी कीर्केगार्ड, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, ज्ञानमीमांसा।

### संदर्भ

1. पी. चर्चलैण्ड (1988), *मैटर ऐंड कांशसनेस : अ कंटेम्परेरी इंट्रोडक्शन टू फिलासफी ऑफ माईंड*, एमआईटी प्रेस, केम्ब्रिज, एमए.
2. पी. चर्चलैण्ड (1995), *द इंजिन ऑफ रीजन, द सीट ऑफ सोल : अ फिलॉसॉफिकल जरनी इनटु द ब्रेन*, एमआईटी प्रेस, केम्ब्रिज, एमए.
3. डी. डेनेट (1991), *कांशसनेस एक्सप्लेंड*, पेंगुइन, लंदन, 1991
4. सी. मैकजिन (1992), *द प्रॉब्लम्स ऑफ कांशसनेस*, ब्लैकवेल, ऑक्सफर्ड.

— अभय कुमार दुबे

## चेतपट वेंकटसुब्बन शेषाद्रि

(Chetpat Venkatsubban Sheshadri)

भारत के प्रमुख वैज्ञानिक चेतपट वेंकटसुब्बन शेषाद्रि (1930-1995) को वैज्ञानिक अनुसंधान और विकास के तरीकों को गरीब और शोषित जनता की उन्नति के साथ जोड़ने के प्रयासों के लिए जाना जाता है। शेषाद्रि साधारण भारतवासियों के दैनिक जीवन में भोजन व ऊर्जा की समस्याओं के प्रति बेहद जागरूक थे। इन्हीं समस्याओं के अध्ययन व उनके सार्थक समाधान तलाशने के लिए उन्होंने 1974 में अपने स्थापित अकादमिक जीवन को छोड़ कर स्वतंत्र अनुसंधानकर्ता के रूप में काम शुरू किया। उन्होंने मैसूर कस्तूरी पेपर, फूड ऐंड केमिकल कम्पनी के साथ मिल कर चारे से खमीर बनाने का एक संयंत्र स्थापित किया। इसके बाद 1976 में उन्होंने मद्रास में उन्होंने मरुगप्पा चेट्टियार शोध संस्थान के संस्थापक-निदेशक के रूप में काम करते हुए इस संस्था को भारत में जनोपयोगी अविष्कारों का केंद्र बनाया। विज्ञान के पाश्चात्य नमूने और उसके दूरगामी हानिकारक प्रभावों पर गहरी नज़र डालने वाले शेषाद्रि ने विज्ञान द्वारा मानव-विकास के नये अविष्कारों और इन अविष्कारों द्वारा समाज में आर्थिक-सामाजिक असंतुलन बनाये रखने की प्रक्रिया का विश्लेषण किया। शेषाद्रि को तकनीकी विकास के मूलभूत पहलुओं की बहुत अच्छी जानकारी थी और

उन्होंने अपने अधिकतर अनुसंधान अपने आस-पास के माहौल के अनुरूप लोगों के जीवन को सुविधाजनक बनाने के उद्देश्य से रोजमर्रा की वस्तुओं पर किया था। शेषाद्रि उन बिरले लोगों में से थे जो एक बार फिर पहिये का आविष्कार करना चाहते थे ताकि उस पहिये के रख-रखाव की निर्देश-पुस्तिका उचित रूप से दोबारा बनायी जा सके।

शेषाद्रि का जन्म 14 अप्रैल, 1930 को तमिलनाडु के तूतीकोरन में हुआ था। मद्रास विश्वविद्यालय से केमिकल इंजीनियरिंग की उपाधि प्राप्त करने के बाद उन्होंने अमेरिका के कार्नेगी मेलोन विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। एक अनुसंधानकर्ता और अध्यापक के रूप में वे भारत और विश्व के श्रेष्ठ संस्थानों में रहे। शेषाद्रि ने भारत में खाद्य पदार्थ और ऊर्जा की कमी से निपटने के लिए सस्ते तथा स्थानीय उत्पादों पर आधारित की मौलिक अन्वेषण किये जिनमें साधारण जनों के लिए पोषक भोजन के रूप में बड़े पैमाने पर शैवाल (समुद्री घास-काई) का उत्पादन, मछुआरों के लिए ऊँची सघनता वाली प्लास्टिक की नाव बनाना, मत्स्य-उत्पादन व संग्रहण के एंजनों का आविष्कार करना, सौर ऊर्जा संरक्षण और उस पर आधारित गृह निर्माण और कम लागत की पवनचक्की का निर्माण जैसे अभिनव प्रयोग शामिल थे। दुनिया में आय के असमान वितरण और गरीबी के बारे में खोजबीन करते हुए शेषाद्रि ने आधुनिक विज्ञान के आधारभूत सिद्धांतों पर सवाल उठाये। उन्होंने ऊष्मा गतिकी के नियम (लॉज ऑफ़ थर्मो डायनामिक्स) और समय की सरल रेखीय मापन प्रणाली के औचित्य और वैधता पर एक अलग तरह का अध्ययन प्रस्तुत किया।

शेषाद्रि समुचित प्रौद्योगिकी के पक्षधर थे। समुचित या सम्यक प्रौद्योगिकी (एप्रोप्रियेट टेक्नोलॉजी) उस तकनीक को कहते हैं जो उस परिवेश के पर्यावरण, संस्कृति और आर्थिक स्थिति के अनुकूल हो जहाँ उसका प्रयोग किया जाना है। इस अर्थ में समुचित तकनीक के लिए कम संसाधनों की जरूरत पड़ती है, उसे अपनाने में कम खर्च आता है उसका पर्यावरण पर भी कम दुष्प्रभाव पड़ता है। शेषाद्रि समुचित तकनीक के हिमायती अवश्य थे लेकिन वे समुचित तकनीक की स्थापित सीमाओं से आगे सोचने वाले वैज्ञानिक भी थे। उन्होंने आधुनिक तकनीक या आधुनिक विज्ञान की चकाचौंध के पार इस विज्ञान के हानिकारक प्रभाव को भली प्रकार से समझा था। शेषाद्रि ने विज्ञान के क्षेत्र में 'सभ्यताओं के संघर्ष' की

अवधारणा को समझा और पाया कि इसके अनुसार विश्व में किसी एक स्थान पर व्यवस्था लाने के लिए किसी अन्य स्थान पर अव्यवस्था फैलानी पड़ती है। ऊष्मा गतिकी का दूसरा नियम इस प्रक्रिया की पुष्टि करता है। वे ऊष्मा गतिकी के नियमों की मूल अवधारणा के खिलाफ़ थे। उनका दावा था कि औपनिवेशिक शक्तियाँ संसाधन सम्पन्न किंतु सैन्य शक्ति से विपन्न राज्यों के शोषण की कुव्यवस्था सही ठहराने के लिए ऊष्मा गतिकी के इन नियमों को वैज्ञानिक आधार और सर्वमान्य सत्य के रूप में पेश करती हैं ताकि उनका दुरुपयोग किया जा सके।

1978 में भारत के युवा वैज्ञानिकों ने पेट्रियोटिक ऐंड पीपल ओरियेंटेड साइंस ऐंड टेक्नोलॉजी (पीपीएसटी) नामक एक समूह की स्थापना की। इस समूह का उद्देश्य आधुनिक विज्ञान की पाश्चात्य अवधारणा के विवेचनात्मक विश्लेषण और इसके विकासशील देशों पर हो रहे कुप्रभावों का अध्ययन करना था। शेषाद्रि के इस समूह से लम्बे समय तक जुड़े रहे और 1990 में इसके सभापति भी बने। उन्होंने प्राचीन भारतीय

वैज्ञानिक व तकनीकी विद्या के गहन अध्ययन व पुनर्मूल्यांकन के अभियान की शुरुआत की और प्राचीन भारतीय विज्ञान-तकनीकों पर आधारित शोध-अनुसंधान-अविष्कारों को बढ़ावा देने के लिए एक गम्भीर बौद्धिक-वैज्ञानिक आंदोलन चलाया।

शेषाद्रि ने भारत के स्थानीय सामान, तकनीक व परिवेश को ध्यान में रखते हुए एक लोकोपकारी वैज्ञानिक के रूप में कुछ असाधारण अन्वेषण किये ताकि भारत की आर्थिक-वैज्ञानिक-तकनीकी आत्म निर्भरता को बढ़ाया जा सके। एक ओर भारत के कृषि-वैज्ञानिक पश्चिम से उधार ली गयी कृषि तकनीक पर आधारित हरित क्रांति का स्वप्न देख रहे थे वहीं शेषाद्रि ने अधिकाधिक मात्रा में रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों, आयातित उन्नत बीजों, गैर-ज़रूरी सिंचाई जैसे उपायों को भारत की कृषि के लिए दूरगामी तौर पर बहुत हानिकारक करार दिया। शेषाद्रि ने कृषि कार्य में जैविक खाद और स्थानीय उत्पादों के इस्तेमाल जोर दिया। उन्होंने महिलाओं को जैविक खेती (बायोडायनामिक एग्रीकल्चर) का प्रशिक्षण भी दिया। इसी प्रयास से आगे चल कर जैविक कृषि के लिए महिलाओं का एक समूह 'सक्था सोसाइटी' की स्थापना हुई। शेषाद्रि ने भारत में कुपोषण की समस्या हल



चेतपट वेंकटसुब्बन शेषाद्रि (1930-1995)

करने के लिए 'स्परुलिना' नामक जैविक खाद्य पदार्थ के व्यापक उत्पादन का अभियान चलाया। स्परुलिना एक शैवाल है, जिसमें 60-70 फ्रीसदी भाग प्रोटीन है। इसमें पोषक तत्व, आवश्यक जीवनवर्धक और रोग संरक्षण तत्व बहुतायत से पाये जाते हैं। शेषाद्रि ने अत्यंत गरीब लोगों को इस शैवाल के उत्पादन और संरक्षण की विधि सिखायी ताकि न केवल ये लोग अपने लिए उपयुक्त भोजन प्राप्त कर सकें बल्कि इसे बेच कर अतिरिक्त आमदनी भी कर सकें।

शेषाद्रि ने भारत की ऊर्जा-आवश्यकताओं को आयातित पेट्रोलियम उत्पादों से हटा कर वैकल्पिक उर्जा स्रोतों पर आधारित करने का प्रयास किया और जीवाश्म ईंधन के स्थान पर जैविक स्रोतों से ईंधन प्राप्त करने के प्रयोग किये। इन्हीं प्रयोगों के अंतर्गत उन्होंने जैविक ईंधन उत्पादन के लिए बोट्रेकोकेस नामक शैवाल से ईंधन बना कर दिखाया। बोट्रेकोकेस में पेट्रोलियम पदार्थों में पाये जाने वाला हाइड्रोकार्बन बहुतायत से होता है और इसके प्रयोग से जीवाश्म ईंधन की तुलना में हानिकारक उच्छिष्ट बहुत कम मात्रा में उत्पन्न होते हैं। शेषाद्रि ने बोट्रेकोकेस शैवाल के व्यापक उत्पादन के लिए अनेक लोगों व संगठनों को पूरा प्रशिक्षण भी दिया। बिजली के औद्योगिक उत्पादन और वितरण की समस्याओं को कम करने के उद्देश्य से शेषाद्रि ने तमिलनाडु के नीलगिरी जिले में एक आदिवासी बहुल गाँव कोल्लिमल्ललाई में सौर उर्जा से झोपड़ियों को बिजली पहुँचाने की एक योजना क्रियान्वित की। इसी प्रकार कोयले पर आधारित ताप बिजलीघर में संसाधनों के अपव्यय और इनके पर्यावरण पर बढ़ते कुप्रभावों को ध्यान में रखते हुए शेषाद्रि ने जैविक पदार्थों से बिजली उत्पादन का एक महत्त्वाकांक्षी अभियान भी चलाया जिसके तहत तमिलनाडु के पूर्वी तटीय इलाक़े की बंजर ज़मीन पर ऐसे वृक्षों को लगाया गया जिनसे कुछ वर्षों में बिजली-उत्पादन किया जा सके। रासायनिक तत्वों से भरपूर रंग, पेंट, कागज़ के स्थान पर शेषाद्रि ने प्राकृतिक पदार्थों से बने इनके विकल्प तलाश किये और उनका सफलतापूर्वक उत्पादन भी किया।

दरअसल, शेषाद्रि एक तकनीकी वैज्ञानिक से कहीं अधिक एक समाज-विज्ञानी थे जिन्होंने आधुनिक विज्ञान को भारत के आम लोगों के शोषण नहीं बल्कि पोषण-संरक्षण के मार्ग पर ले जाने का प्रयास किया। आधुनिक विज्ञान और भारत जैसे विकासशील देशों में इसके उपयोग पर उन्होंने 'समता ही श्रेष्ठ विज्ञान है' शीर्षक से लम्बा लेख लिखा जिसमें सभी लोगों के विकास की आवश्यकताओं के साथ-साथ भारत में आर्थिक असंतुलन बढ़ाने में आधुनिक तकनीक और विज्ञान के योगदान का विस्तृत विश्लेषण किया गया था। शेषाद्रि ने भारत में आधुनिक विज्ञान के पाश्चात्य प्रतिमान के अंधानुकरण का विरोध किया था। उनका कहना था कि बड़े

बांध, बड़े ताप बिजलीघर, परमाणु उर्जा, एलोपैथिक दवाइयाँ, औद्योगिक-व्यवसायिक पद्धति की कृषि भारत जैसे विकासशील राष्ट्र के लिए पूर्णतः अनुपयुक्त है।

शेषाद्रि राष्ट्र-राज्य की परिकल्पना, तथाकथित विकास योजनाओं के केंद्रीकरण, अंग्रेज़ी भाषा को आधुनिकता का पैमाना समझने और सामाजिक-आर्थिक विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध शोषण के धुर-विरोधी थे। शेषाद्रि ने भारतीय लोगों को भारतीय परिवेश व वातावरण के अनुसार अपनी जीवन-शैली अपनाने का सुझाव दिया क्योंकि उनके अनुसार भारत जैसे देश के पास शोषण करने के लिए फ़ोर्थ, फ़िफ़थ या सिक्स्थ वर्ल्ड के देश उपलब्ध नहीं हैं।

**देखें :** आशिस नदी-1 और 2, आनंद केंटिश कुमारस्वामी, जोसेफ़ चेल्लादुरै कुमारप्पा, धीरूभाई शेट, मुकुंद लाठ, मेघनाद साहा, यशदेव शल्य, रजनी कोठारी, वासुदेव शरण अग्रवाल।

### संदर्भ

1. सी.वी. शेषाद्रि (1993), 'इक्विटी इज़ गुड साइंस : द इक्विटी पेपर्स', ए.एम.एम. मुर्गप्पा चेट्टियार शोध संस्थान, चेन्नई.
2. शिव विश्वनाथन (2002), 'द लेबोरेटरी ऐंड द वर्ल्ड : कंवर्ज़ेंस विद शेषाद्रि', इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड 37, अंक 22.

—रवि दत्त वाजपेयी

## चैतन्य महाप्रभु

(Chaitanya Mahaprabhu)

मध्यकाल में हुए जिस भक्ति आंदोलन ने नामदेव, सेना, चोखा, रैदास, कबीर, तुलसी, नानक, दादू आदि संतों और भक्तों को पैदा किया, चैतन्य महाप्रभु (1485-1533) उसी की देन थे। चैतन्य का जीवन-काल प्रमाणित है। उन्होंने अचिन्त्य भेदाभेदभाव दर्शन की स्थापना की। ऐतिहासिक दृष्टि से इसे माध्व-मत के साथ जोड़कर देखा जाता है किंतु दोनों में कुछ मूलभूत अंतर की वजह से माध्व गौड़ीय सम्प्रदाय की जगह इसे केवल गौड़ीय सम्प्रदाय ही कहा जाता है। इसका एक दूसरा नाम बंगवैष्णव सम्प्रदाय भी है। चैतन्य महाप्रभु ने लोगों को बहुत गहरे तक प्रभावित किया, ख़ास कर बंगाल के अंदर। उन्होंने मठ-मंदिरों के बाहर आ कर जनता के बीच भक्ति का सबके लिए रास्ता खोला। उस समय की दलित, उत्पीड़ित तथा श्रमजीवी जनता को उससे एक संबल मिला।

चैतन्य महाप्रभु का जन्म पश्चिम बंगाल के नदिया नामक स्थान पर हुआ था। इनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र



चैतन्य महाप्रभु (1485-1533)

तथा माँ का नाम शचि देवी था। उन्हें बचपन में विश्वम्भर के नाम से बुलाया जाता था। एक मान्यता यह भी है कि चैतन्य अपने पालनहारों को नीम के पेड़ के नीचे मिले थे। इस वजह से उनका बचपन का एक नाम निमाई भी बताया जाता है। चैतन्य काफ़ी प्रतिभाशाली थे और बहुत कम अवस्था में ही न्याय और व्याकरण में पारंगत हो गये थे। उन्होंने कुछ समय तक अपने जन्म स्थान नदिया में स्कूल स्थापित कर अध्यापन कार्य भी किया। आगे चलकर उनका विवाह लक्ष्मीप्रिया से हुआ, जिनकी सर्पदंश से मृत्यु हो गयी। उसके बाद नवद्वीप के राजपण्डित सनातन की पुत्री विष्णुप्रिया से दूसरा विवाह हुआ। चैतन्य जब किशोरवय के थे, तभी उनके पिता का देहांत हो गया था।

पिता का श्राद्ध करने गया जाने पर वहाँ संत ईश्वरपुरी

के सान्निध्य में आकर उन्हें कृष्ण नाम संकीर्तन और कृष्ण भक्ति की प्रेरणा मिली। मात्र 24 वर्ष की अवस्था में श्री पाद केशव भारती से संन्यास की दीक्षा लेने के बाद उन्होंने गृहस्थ आश्रम त्याग दिया। उनका नाम विश्वम्भर से कृष्ण चैतन्य देव हुआ। बाद में वे चैतन्य महाप्रभु के नाम से विख्यात हुए। संन्यास लेने के बाद वे जगन्नाथ मंदिर गये जहाँ सार्वभौम भट्टाचार्य से उनकी मुलाकात हुई। चैतन्य महाप्रभु ने सार्वभौम भट्टाचार्य को ज्ञान से ऊपर भक्ति के महत्त्व का उपदेश दिया जिसके बाद भट्टाचार्य महाप्रभु के शिष्य हो गये और *चैतन्य शतक* नामक स्तुतिग्रंथ लिखा। ओडीशा के सूर्यवंशी सम्राट गजपति महाराज प्रताप रुद्रदेव चैतन्य के अनन्य भक्तों में माने जाते हैं। महाप्रभु से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने दीक्षा ली और उनके अनुयायी हुए। नित्यानंद और अद्वैताचार्य महाराज उनके प्रथम शिष्य बताये जाते हैं जिन्होंने ढोलक, मृदंग, झाँझ, मंजीरे आदि की संगति पर गा-गाकर हरिनाम संकीर्तन को अपार सफलता दिलायी।

चैतन्य महाप्रभु का कहना था कि हरेक को ईश्वर का भजन और आराधना का अधिकार है। ईश्वर की नज़र में कोई बड़ा या छोटा नहीं है। उस समय की सरकारों इस्लाम के नाम पर उनके सामूहिक संकीर्तन-गायन पर प्रतिबंध लगाती थीं, बावजूद इसके पूरे बंगाल में उनका काफ़ी प्रभाव था और श्रमजीवी जनता तक उनका संकीर्तन पहुँचता रहता था। उनके अनुयायियों में समाज के निम्न तबके के लोग अधिसंख्य थे। सिर्फ़ हिंदू ही नहीं बल्कि मुसलमान अनुयायी भी उनके साथ जुड़े थे। उनके तीन प्रमुख शिष्य रुज, सनातन और हरिदास मुसलिम समाज से थे।

चैतन्य महाप्रभु रचित किसी ग्रंथ के बारे में कोई पता नहीं चलता। रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी और बलदेव भूषण जैसे चैतन्य के अनुयायियों ने अचिन्त्य भेदाभेदवाद को दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में स्थापित करके लोकप्रिय बनाया। रूप गोस्वामी रचित *उज्ज्वलनीलमणि* और *भक्तिरसामृतसिंधु* पर जीव गोस्वामी की टीकाएँ मिलती हैं। जीव गोस्वामी द्वारा *भागवत* पर लिखित *षट्संदर्भ* ग्रंथ उपलब्ध है जिसकी जीवगोस्वामी ने ही *सर्वसम्वादिनी टीका* लिखी है। इनके अलावा बादरायण के *ब्रह्मसूत्र* पर बलदेव विद्याभूषण द्वारा लिखा *गोविन्दभाष्य* भी इस सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

यह सम्प्रदाय कृष्ण को परमब्रह्म मानता है। इसका मानना है कि वे अनन्त कल्याण गुण सम्पन्न और अनंत शक्ति सम्पन्न हैं। उनमें गुण और गुणी का अभेद है। भगवान के स्वरूप, विग्रह और गुणों में कोई भेद नहीं है। ये सब एक हैं। उनमें भेद भाषागत दृष्टि से है, वास्तव में वे एक हैं। अचिन्त्य अपरिमेय अनंत के कारण भगवान में विरुद्ध गुणों की स्थिति भी बनी रहती है। भगवान अपनी शक्तियों द्वारा

जगत और जीवों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यह अभिव्यक्ति वास्तविक और सत्य है। भगवान अपने स्वरूप से जगत के निमित्त कारण और अपनी शक्तियों से उपादानकरण हैं। इस प्रकार भगवान ही इस जगत के अभिन्ननिमित्तोपादन कारण हैं। भगवान में और उनकी शक्तियों में अचिन्त्यभेदाभेद संबंध है। इस मत के सैद्धांतिक प्रतिपादन इस प्रकार हैं :

आराध्य तत्त्व : इस मत के अनुसार श्रीकृष्ण ही आराध्य हैं। श्रीकृष्ण की तीन लीलाओं, वृंदावन-लीला, मथुरा-लीला तथा द्वारिका-लीला में से वृंदावन-लीला की ही इसमें प्रमुखता है। सभी लीलाओं में गोपीकृष्ण की माधुर्य लीला ही इसके अनुयायियों को रास आती है। धामतत्त्व : आनंद निकेतन, प्रेम-सरोवर वृंदावन ही सर्वप्रियधाम है। उपासना तत्त्व : ब्रज की वधुओं द्वारा सम्पादित उपासना ही मुख्य उपासना है। इसका बीज है रागात्मिका भक्ति, अनुरागमूलक भक्ति। वैधी भक्ति की उपासना रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पटरानियाँ करती हैं परंतु इसमें विधि-विधान ही विशेष है, हृदय के अनुराग का संबंध बहुत ही न्यून है। परंतु गोपियों की उपासना सर्वथा स्वार्थहीन, अहैतुकी तथा सान्द्रसमयी है। यही आदर्श है उपासना-तत्त्व का। शास्त्र तत्त्व : सबसे श्रेष्ठ शास्त्र है भागवत पुराण, जिसमें श्रीकृष्ण की ललित लीलाओं का कीर्तन किया गया है और जिसमें भक्ति के नाना रूपों का सरस विवरण है। पुरुषार्थ तत्त्व : चैतन्यमत धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के अलावा एक पाँचवा पुरुषार्थ 'प्रेमा' मानता है। और इसकी उपलब्धि ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

चैतन्य मत के अनुसार स्वरूपशक्ति, तटस्थशक्ति या जीवशक्ति और मायाशक्ति ईश्वर की ये तीन शक्तियाँ हैं। स्वरूपशक्ति अंतरंग शक्ति कहलाती है। भगवान की स्वरूपशक्ति सत्, चित् और आनंद के कारण तीन तरह के रूपों में अभिव्यक्त होती है। सत् रूप में अभिव्यक्त शक्ति संधिनी कहलाती है। चित् रूप में अभिव्यक्त शक्ति को सम्बित् कहा जाता है तथा आनंदरूप में अभिव्यक्त शक्ति हलादिनी कहलाती है। तटस्थशक्ति या जीवशक्ति के जरिये भगवान अणुपरिमाण जीवों के रूप में व्यक्त होते हैं। मायाशक्ति के माध्यम से भगवान अपने को जड़ जगत रूप में व्यक्त करते हैं। माया बहिरंग शक्ति है। जीवन अनेक, अणुरूप तथा नित्य है। जैसे सूर्य से किरणें निकलती हैं वैसे ही ईश्वर अपने को जीव-रूप में व्यक्त करता है। जीव सर्वदा भगवान पर आश्रित है। जगत भी भगवान की अभिव्यक्ति होने के कारण सत्य है। जगत की अपूर्णता, अज्ञान, दुःख आदि भगवान को स्पर्श नहीं करते। मोक्ष में जीव के अज्ञान का नाश हो जाता है, किन्तु जगत की सत्ता बनी रहती है।

मानव ईश्वर चालित यंत्र की तरह है किंतु वह अपना भाग्य विधाता है। अपना कल्याण चाहता है और गुरु व

शास्त्रोपदेश उसे सच्ची दिशा प्रदान कर सकते हैं। श्रीमद्भागवत का सुंदर उपदेश है कि जब जीव की सांसारिक यात्रा समाप्त होने को होती है तो उसके साथ भगवान के किसी भक्त का समागम होता है। उस सत्संग समागम के जरिये वह भगवान से प्रेम करने लगता है तथा प्रेम के जरिये उसे सद्गति (मोक्ष) प्राप्त होती है। मोक्ष से बढ़ कर भी जीवन का साध्य प्रेमा है। यह प्रेमा ही जीवन का सार है। और प्रेमा कृष्ण का साक्षात् रूप है। और पाँचवाँ पुरुषार्थ है। रूप गोस्वामी के अनुसार प्रेम विभिन्न क्रमों को पार करता हुआ अपने विशुद्ध रूप में आविर्भूत होता है। जीव स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, व भाव की क्रमिक दशाओं से होता हुआ महाभाव तक पहुँचता है तथा प्रेमा रूप में प्रतिष्ठित होता है।

इस अवधारणा के अनुसार प्रेमा के उदय का भी एक मनोवैज्ञानिक क्रम है। कार्य-कारण की एक शृंखला है, जिसके भीतर से जाने पर ही भक्त के हृदय में यथार्थ की उत्पत्ति होती है। भक्तिरसामृतसिंधु के अनुसार सर्वप्रथम श्रद्धा उत्पन्न होती है। तब होता है साधु समागम। भजन की क्रिया आरम्भ होती है, जिससे भक्तों के अनर्थ का निवारण हो जाता है। अनंतर उदित होती निष्ठा अर्थात् अत्यन्त उत्साह के साथ भजन का संत सेवन और अनुष्ठान। तब होती है रुचि अर्थात् भजन करने तथा लीला-श्रवण में प्रेम, जिससे उत्पन्न होती है आसक्ति अर्थात् दृढ़ गम्भीर स्नेह। इसके पीछे तथा अंत में प्रेमा का उदय होता है। यहाँ प्रेमा की समता सूर्य से दी गयी है। जिस प्रकार सूर्य का उदय होने पर निशा का अवसान हो जाता है और सर्वत्र किरणों का विस्तार होता है, प्रेमा की भी यही दशा होती है। इस महाभाव के चित्त में उदय होते ही साधक का चित्त आह्लाद से प्रफुल्लित हो उठता है। प्रेमा को महाभाव कहने का आशय यह है कि सांसारिक रति तो भावरूपा ही होती है, किन्तु श्रीकृष्ण विषय रति ही महानभाव (स्थायी भास) बनने की अधिकारिणी है। चैतन्यमत में भक्ति ही 'आभिधेयतत्त्व' है। अतः श्रीकृष्ण प्रेम 'साध्य-तत्त्व' है तथा उसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय होने से श्रीकृष्णभक्ति ही 'साधन तत्त्व' है।

चैतन्य महाप्रभु ने दक्षिण भारत श्रीरंग तथा सेतु बाँध आदि क्षेत्रों की यात्रा करते हुए 1515 में विजयदशमी के दिन वृंदावन के लिए प्रस्थान किया और कार्तिक पूर्णिमा के दिन वृंदावन पहुँचे। वृंदावन में इसी तिथि को गौरांग आगमनोत्सव धूमधाम से मनाया जाता है। वृंदावन में चैतन्य ने इमली तला तथा अकूर घाट पर कुछ दिनों तक निवास किया। वहाँ से प्रयाग, काशी, हरिद्वार, शृंगेरी, काम-कोटि, द्वारिका, मथुरा आदि स्थानों पर हरिनाम संकीर्तन का प्रचार-प्रसार करते हुए घूमते रहे। 47 साल की अल्पायु में ही जगन्नाथ रथयात्रा के दिन चैतन्य का निधन हुआ।

देखें : आर्यभट्ट और आर्यभटीय, उपनिषद्, कपिल, अर्थशास्त्र और

कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और योगसूत्र, पाणिनि और अष्टाध्यायी, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, भगवद्गीता, भरत और नाट्यशास्त्र, मुकुंद लाठ, भागवत पुराण, महाभारत, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, राम अवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और कामसूत्र, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

### संदर्भ

1. चंद्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.
2. अजय तिवारी (सम्पा.), तुलसीदास : एक पुनर्मूल्यांकन,
3. भक्ति आंदोलन और तुलसीदास : रामविलास शर्मा), आधार प्रकाशन, पंचकूला.
4. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी.

— अजय कुमार पाण्डेय

## चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु

(Chandrika Prasad Jigyasu)

आधुनिक हिंदी दलित साहित्य के पहले प्रवर्तकों में से एक चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु (1889-1974) को दलित समाज में साहित्य-संस्कृति के पुनः जिज्ञासा जगाने का श्रेय जाता है। दलित समाज को उसके इतिहास से का साक्षात्कार कराने वाले जिज्ञासु 1960 में दलित साहित्य छापने वाला पहला प्रेस लगाया और अपने लेखन और व्याख्यानों ने दलित-पिछड़ी जातियों में नयी चेतना पैदा की, नया सोच विकसित किया और उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाया। हिंदी प्रदेश में हजारों नौजवान उनकी किताबें पढ़कर बुद्ध और आम्बेडकर के प्रति आकर्षित हुए और ब्राह्मणवाद के खिलाफ सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन में कूद पड़े। उन्होंने दलित और पिछड़ी जातियों को भारतीय राजनीति और भारतीय समाज को समझने की दृष्टि प्रदान करने वाले चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु ने अपनी निरंतर सक्रियता और प्रतिबद्धता से एक समूचे युग का निर्माण किया जिसमें नये लेखकों की एक पूरी पीढ़ी पैदा हुई और पनपी। वे पायी किल से गाँव-गाँव जाकर सामाजिक परिवर्तन की अलख जगाते हुए आम्बेडकर विचारधारा का प्रचार करते रहे। लखनऊ में सक्रिय उनके सहयोगियों और उनसे अनुप्राणित लेखकों में राजवैद्य बदलूराम रसिक, खेमचंद सौगत, मंगलदेव विशारद, रामस्वरूप वर्मा, छेदीलाल साथी और डॉ. अंगने लाल प्रमुख

थे। जिज्ञासु के व्यक्तित्व और कृतित्व ने राहुल सांकृत्यायन और अमृत लाल नागर तक को प्रभावित किया। आरम्भ में जिज्ञासु गाँधीवादी थे और 'राष्ट्रीय डंका' और 'आजादी' शीर्षक से उनकी राष्ट्रीय कविता ब्रिटिश शासन द्वारा ज़ब्त कर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। शीघ्र ही गाँधीवाद से उनका मोह भंग हो गया और वे डॉ. आम्बेडकर के प्रशंसक हो गये। भदंत बोधानंद के सम्पर्क में आने पर उनका बौद्ध धर्म की ओर रुझान हुआ।

जिज्ञासु का जन्म 1889 में कलवार जाति में हुआ था। उनके पिता मास्टर जियालाल अमेरिकन मिशन स्कूल, आदतगंज के हेड मास्टर थे। जब वे ग्यारह साल के थे वे तभी अनाथ हो गये, पर वे घबराये नहीं, कठोर परिश्रम किया और मुड़िया सीख कर मुनीमगरीरी की। कठिन परिस्थितियों में हाई स्कूल, संस्कृत में मध्यमा और फ़ारसी में गुलिस्ताँ बोस्ताँ की पढ़ाई की। उन्होंने तमाम धर्मशास्त्रों और साहित्य का अध्ययन किया। वे निरंतर लिखते-पढ़ते रहते थे। अध्ययन के ज़रिये उन्हें हिंदी, उर्दू, बांग्ला, संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, और पश्तो भाषाओं का अच्छा ज्ञान हो गया था। कुरान का उन्होंने (उर्दू से) हिंदी अनुवाद किया था। जब कभी वे मुसलमानों के बीच व्याख्यान देते थे तो लगता था कि सारे इस्लामिक साहित्य का उन्होंने मंथन कर डाला है।

जिज्ञासु ने उस दौर में डॉ. आम्बेडकर पर लिखना आरम्भ किया जब उत्तर भारत में शिक्षित दलित भी उनके बारे में बहुत अधिक नहीं जानते थे। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि आम्बेडकर की और उन पर किताबें उपलब्ध नहीं थीं। डॉ. डी.आर. जाटव की आत्मकथा मेरा सफ़र मेरी मंज़िल का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उन्हें बहुत मुश्किल से ही आम्बेडकर पर दो-तीन पुस्तकें उपलब्ध हुई थीं। एक-दो पुस्तकें उन्हें उनके पीएचडी गाइड श्री तिवारी के ज़रिये मिल पायी थीं। डॉ. जाटव ने साठ के दशक में डॉ. आम्बेडकर पर पीएचडी की थी और सम्भवतः वे बाबा साहेब पर अकादमिक अध्ययन करने वाले देश के पहले शोधार्थी थे।

जिज्ञासु डॉ. आम्बेडकर की पुस्तकें (जैसे, शूद्र कौन थे?, कांग्रेस और गाँधी ने अछूतों के लिए क्या किया?, भारत में जाति की समस्या क्या है? और जाति का उच्छेद आदि) हिंदी में प्रकाशित करना चाहते थे। दो पुस्तकों को हिंदी में प्रकाशित करने के लिए तो वे ख़ास तौर से बेचैन थे। इनमें एक थी पार्टीशन ऑफ़ इण्डिया एंड पाकिस्तान और दूसरी थी प्रॉब्लम ऑफ़ रुपी। पहली किताब उन्हें कन्हैयालाल कमल के सौजन्य से मिली (जिसके बारे में जिज्ञासु ने लिखा है कि कमल इसे प्राण के समान पेट में बंद करके रखे हुए थे)। इस किताब का अनुवाद दयाराम जैन ने किया और 1972 में वह हिंदी में बहुजन कल्याण माला के तहत प्रकाशित हुई। लेकिन प्रॉब्लम ऑफ़ रुपी शायद उन्हें उपलब्ध ही नहीं हो सकी।

जिज्ञासु के पास इतिहास की गहरी समझ थी। उन्होंने दलित इतिहास और संस्कृति का गहरा अध्ययन किया था और वे दलित नायकों के इतिहास को सामने लाना चाहते थे। छोटी-छोटी पुस्तकों के माध्यम से उन्होंने वह कर दिखाया जो मोटी-मोटी पोथियों के लेखक और विद्वान नहीं कर सके। वैदिक विचार के लेखकों की राय में रावण द्रविड़ था, लेकिन जिज्ञासु के मतानुसार रावण गोंड जाति का था। लटारी कवडू मडावी ने भी उनकी बात का समर्थन करते हुए रावण को तमाम आदिवासी गणों का गणनायक बताया है। जिज्ञासु ने अपने लेखन में रावण को अनार्य राजा सिद्ध किया है जो भगवान गौतम बुद्ध के अनुयायी थे।

जिज्ञासु की पहली पुस्तक महाराणा प्रताप पर थी जो उन्होंने आर्य समाजियों के कहने पर लिखी थी। लखनऊ से गोपाल लाल खत्री द्वारा शुरू की गयी *नागरी प्रचारणी* नाम पत्रिका का सम्पादन भी उन्होंने कुछ समय तक किया। साहित्य और इतिहास लेखन के साथ वे पत्रकारिता में भी आये। *नवजीवन* में सहायक सम्पादक बने और वहीं से सेवा-मुक्त होकर उन्होंने समाज सेवा प्रेस क्रायम किया। उन्होंने *कलवार-संदेश* और *हैहय क्षत्रिय* नामक पत्रिकाएँ निकालीं जिनका प्रकाशन काफ़ी समय तक जारी रहा। जिज्ञासु प्रकाश लखनवी के नाम से कविताएँ लिखते थे और उनके लेख *सुधा* तथा *सरस्वती* में भी छपे। हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद में भाग लेने के बाद लखनऊ लौट कर जिज्ञासु ने स्वामी रामतीर्थ के शिष्य नारायण स्वामी की *गीता भाष्य* के सम्पादन और प्रकाशन में मदद की। उन्होंने रामतीर्थ

पल्बिकेशन लीग के लिए उर्दू के कई ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद भी किया। जिज्ञासु बांग्ला भी जानते थे और उन्होंने बांग्ला उपन्यासों की हिंदी में भाषांतर भी किया।

जिज्ञासु का रचना-संसार विशाल है। उनके द्वारा लिखित, सम्पादित और अनूदित पुस्तकों की संख्या सौ के लगभग है। जिज्ञासु की मृत्यु एक हृदयविदारक हादसे के कारण हुई। सर्दी के मौसम में वे काफ़ी कपड़े पहनते थे और रात को भी वही कपड़े पहन कर सोते थे। रजाई भी ओढ़ते थे और चारपायी के नीचे हीटर भी लगाते थे। एक रात हीटर ने चारपायी में आग पकड़ ली। इस दुर्घटना में गम्भीर रूप से जल जाने के कारण 12 फ़रवरी, 1974 को उनका देहांत हो गया।

**देखें :** अनुसूचित जातियाँ, अस्मिता की भारतीय राजनीति, अन्य पिछड़े वर्ग, आयोतीदास पांडीतर, आर्यकाली, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, कांशी राम, गाडगे बाबा, गुरु घासीदास, गोपाल बाबा वलंगकर, जगजीवन राम, ज्योतिराव गोविंदराव फुले, जाति और जाति-व्यवस्था-1 से 4 तक, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, बाबू मंगूराम, भदंत आनंद कौसल्यायन, भीमराव रामजी आम्बेडकर, स्वामी अछूतानंद हरिहर।

#### संदर्भ

1. श्यौराज सिंह बेचैन (1995), *हिंदी की दलित पत्रकारिता पर पत्रकार आम्बेडकर का प्रभाव*, समता प्रकाशन, दिल्ली।
4. अंगनेलाल (2011), *उत्तर प्रदेश में दलित आंदोलन*, गौतम बुक सेंटर, नयी दिल्ली।

— मोहन दास नैमिशराय